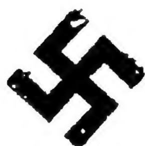
देवराज सुराणा  अभयराज नाहर

अध्यक्ष मन्त्री

श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय

मेवाड़ी बाजार, ब्यावर (राजस्थान)



मुद्रक :

पं० बालकृष्ण उपाध्याय

श्री नारायण प्रिन्टिंग प्रेस,

ब्यावर.

-: आभार :-



"हीरक प्रवचन" का छठा भाग पाठकों के कर-कमलों में उपस्थित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। कुछ ही समय पूर्व पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, व पांचवां भाग प्रकाश में आ चुका है। पाठकों ने उसे सहर्ष अपनाया है और इसी कारण आगे के भाग प्रकाशित करने का उत्साह हमें प्राप्त हो सका है। आशा है अगले भाग यथा सम्भव शीघ्र ही पाठकों की सेवा में पहुँच सकेंगे।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में जिन जिन महानुभावों का हमें प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग प्राप्त हुआ है, हम उनके प्रति अतीव आभारी हैं। पं० र० मुनि श्री हीरालालजी म० का, जिनके यह प्रवचन हैं, कहां तक आभार माना जाय? आप तो इसके प्राण हैं ही। वे सज्जन भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके आर्थिक सहयोग से हम इस साहित्य को प्रकाशित कर सके हैं।

अन्त में निवेदन है कि धर्म प्रेमी पाठक इन्हें स्वयं पढ़ें, दूसरों को पढ़ने के लिए दें और अधिक से अधिक प्रचार करने में सहायक बनें। इति शम्।

देवराज सुराणा
अध्यक्ष,

अभयराज नाहर
मन्त्री,

जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर

किंचित्-प्रास्ताविक



भारतवर्ष धर्म और अध्यात्म की भूमि गिनी जाती है। अनादि काल से इस भव्य भूमि में सन्तों, महात्माओं, अवतारों और तीर्थंकरों का जन्म होता आया है। उन्होंने अपने महान् जीवन को आध्यात्मिक साधन में लगाया। अपनी आत्मा का उत्थान किया और सारे जगत् को अपूर्व प्रकाश दिया। यही कारण है कि भारतीय जनता के जीवन में धर्म और नीति सदा घुली-मिली रही है। मगर इस अर्वाचीन काल में भारतीय संस्कृति अपने निखालिस रूप में नहीं रह गई है। विदेशियों का शासन रहने के कारण तथा वैज्ञानिक विकास की बदौलत आवागमन के द्रुतगामी और सुलभ साधन मिलने से भारतीय जनता का विदेशों के साथ खूब सम्पर्क बढ़ गया है। अतएव विदेशी विचारधारा ने भारतीय जनमानस को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अत्यधिक प्रभावित किया है।

आज भारतीय जनता का जीवन गड़बड़ में पड़ गया है। हमारी आध्यात्मिक संस्कृति विकृत हो रही है, धार्मिकता शिथिल होती जा रही है नैतिकता समाप्त हो रही है और परिणाम स्वरूप सारा जीवन अधःपतन की ओर चला रहा है। यह परिस्थिति किसी भी विवेकशील व्यक्ति को सन्तोष नहीं दे सकती। क्योंकि धार्मिकता के बिना जगत् कभी वास्तविक सुखशान्ति नहीं पा सकता और विश्व में धार्मिकता की जागृति अगर हो सकती है तो भारत के द्वारा ही हो सकती है। ऐसी हालत में अगर हम

स्वयं असावधान रहे और अपने धर्मभाव की रक्षा न कर सके तो दुनियां को धर्म का प्रकाश किस प्रकार दे सकेंगे ?

सौभाग्य से भारत में सन्त पुरुष आज भी विद्यमान हैं, जिन्होंने अपनी समग्र शक्तियां धर्मसेवा के लिए ही समर्पित कर दी हैं, उन्हीं से हम यह आशा कर सकते हैं कि वे इस गये-गुजरे समय में भी सामने आएँगे और हमारे जीवन को सँभालेंगे। उन्हीं से यह अपेक्षा रखी जा सकती है कि वे अपने उपदेशों द्वारा जनजीवन में व्याप्त अनैतिकता, भ्रष्टाचार, दुराचार और अनाचार का निवारण करेंगे और जीवन को पवित्रता और उच्चता की ओर ले जाएँगे।

सन्तोष की बात है कि सन्त समाज युग की पुकार पर ध्यान देकर अपने ढंग से यह सराहनीय प्रयत्न कर रहा है। प० र० मुनि श्री हीरालालजी महाराज भी उन्हीं सन्तों में एक हैं, जो अपने दैनिक प्रवचनों के द्वारा आज देश की आत्मा को ऊँचा उठाने का भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। मुनिश्री ने बंगाल, बिहार, पंजाब, सौराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि सुदूरवर्त्ती प्रदेशों मे पैदल भ्रमण करके धर्म की जो अलख जगाई है, उससे सहस्रों नर-नारियों के जीवन को पवित्र प्रेरणा मिली है।

प्रस्तुत पुस्तक उक्त मुनिश्री के ही प्रवचनों का संग्रह है। आपके प्रवचन 'हीरक प्रवचन' के नाम से सीरीज के रूप में प्रकाश में आ रहे हैं। यह उसका छट्ठा भाग है। पहले के भागों की अपेक्षा इस भाग में कई विशेषताएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। इसकी भाषा अतीव परिमार्जित, साहित्यिक, सरल, सुबोध और

गठी हुई है। बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से भावों को व्यक्त किया गया है, पढ़ना आरम्भ करने पर बीच में छोड़ देने को मन नहीं चाहता। निःसदेह इस प्रकार की पुस्तकें समाज के लिए अत्यन्त लाभदायक हैं। अतएव जिन-जिन धर्मप्रेमी महानुभावों ने इसके प्रकाशन में किसी भी रूप में सहयोग दिया है, वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। विशेष रूप से आर्थिक सहायकदाता तथा श्री दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय ब्यावर के व्यवस्थापक सरलस्वभावी सेवाभावी सेठ श्री-अभयराजजी नाहर बधाई के पात्र है, जिनके सहयोग के बिना यह उपयोगी साहित्य प्रकाश में नहीं आ सकता था।

आशा है धर्मप्रिय पाठक इन प्रवचनों से लाभ उठाएँगे। प्रवचन बड़े सुन्दर हैं और इनमें प्रार्थना शास्त्र, चरित तथा प्रासंगिक कथाओं का ऐसा समन्वय किया गया है कि विविध रसों की अनुभूति के साथ सुन्दर शिक्षा भी मिलती है, प्रत्येक रूचि के पाठकों को यह उपयोगी हैं। इनमें कहीं अध्यात्म की विमल धारा बहती है, कहीं वैराग्य की लहरें उठती हैं, कहीं नीति का निदर्शन है तो कहीं अतीत काल की सुनहरी झांकी दिखाई देती है, प० र० मुनि श्री हीरालालजी म० को जितनी बधाई दी जाय, थोड़ी है, जिन्होंने युगानुकूल प्रवचन करके जनता का प्रशस्त पथप्रदर्शन किया है। इत्यलम्।

शोभाचन्द्र भारिल्ल



:: दानदाताओं की शुभ नामावली ::

—·०:—

श्री मज्जैनाचार्य शांतिमूर्ति स्वर्गीय श्री खूबचन्दजी म० के गुरु भ्राता स्व० व्याख्यानी पं० मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्रजी म० के सुशिष्य श्रमण सघीय जैनागम तत्त्व विशारद पं० रत्न मुनि श्री हीरालालजी का स० २०१६ का चातुर्मास बैंगलोर केन्टोनमेन्ट में श्री वर्ध० स्था० जैन श्रावक संघ की आग्रह भरी विनती से मोरचरी तथा सर्पीग्सरोड़ में हुआ। मुनि श्री के प्रवचन अत्यन्त मनोहर सारगर्भित एवं हृदयस्पर्शी होते थे। उन ओजस्वी प्रवचनों को सर्व साधारण के सदुपयोग में लाने के लिए श्रीमान् धर्मपालजी मेहता द्वारा सकेत लिपि लिखवाए गए और उन व्याख्यानों का संपादन हो जाने पर 'हीरक-प्रवचनादि" पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाने के लिए सांवत्सरिक महापर्व के समारोह की खुशी में निम्नलिखित उदार महानुभावों एवं महिलाओं ने अपनी उदारता का परिचय देते हुए सहयोग प्रदान किया:—

:: मानद् स्तम्भ ::

११११) श्रीमन् सेठ मंगलजी भोजराजजी मेहता (पालनपुर निवासी) C/o विक्टरी टेड्रर्स रंगापिल्लाई स्ट्रीट पांडीचेरी

१००१) श्रीमान् सेठ कुन्दनमलजी पुखराजजी लूकड़, चिकपेट बैंगलोर २

:: माननीय सहायक ::

४०६) श्री महिला समाज की ओर से बैंगलोर

४०१) श्री सेठ जसराजजी भवरलालजी सियाल चिकपेट ,, २

४००) ,, मंगलजी भाई मणीलाल भाई मेहता (पालनपुर निवासी) C/o ओवरसीज ट्रेडर्स २२ डूप्लेक्स स्ट्रीट पांडीचेरी

४००) श्री सेठ हरिलालजी लक्ष्मीचन्दजी भाई मोदी (पालनपुर निवासी) C/o एच०एल० मोदी वेशाल स्ट्रीट पांडीचेरी

४००) " शान्तिलालजी बछराज भाई मेहता (पालनपुरनिवासी) C/o एस. बछराज नं० ६ लबोरडनी स्ट्रीट पांडीचेरी

३००) " गुप्तदान (एक बहिन की तरफ से) मामूली पैंठ बैंगलोर २

२५१) श्रीमती मंजुला बहिन C/o एम० एस० मेहता, बौरटन शौप महात्मा गांधी रोड़, बैंगलोर १

२५१) श्रीमान् सेठ रूपचन्दजी शेषमलजी लूनिया, मोरचरी बाजार, बैंगलोर १

२०२) " सेठ मंगलचन्दजी मांडोत, शिवाजी नगर बैंगलोर १

२०१) श्रीमती ताराबाई कालीदासजी मेहता C/o सेठ रजनीकान्तजी कालीदासजी मेहता २११ लिंगीचेट्टी स्ट्रीट मद्रास १

२००) श्रीमान् सेठ जशवंतसिंहजी सग्रामसिंहजी मेहता (जयपुर निवासी) C/o इम्पोर्ट एक्सपोर्ट कोरपोरेनश पोस्ट बोक्स नं० २८ कोसेकड़े स्ट्रीट पांडीचेरी

१५१) " गुप्त दान (एक सज्जन की ओर से) हलसूर

१५१) " केसरीमलजी अमोलकचन्दजी आछा, कांजीवरम

१३१) " घेवरचन्दजी जसराजजी गुलेछा, रंग स्वामी टेम्पल स्ट्रीट, बैंगलोर २

१२१) " जुगराजजी खींवराजजी बरमेचा मद्रास

१०२) " जसराजजी रांका (राखी वाले) C/o सेठ रतनचदजी रांका ३८ वीरप्पन स्ट्रीट मद्रास

१०१) श्री सेठ किशनलालजी फूलचन्दजी लूनिया,
दीवान सुरापालेन, बैंगलोर २

१०१) „ मिश्रीलालजी पारसमलजी कातरेला,
मामूली पैंठ बैंगलोर २

१०१) „ मगनभाई गुजराती, गांधी नगर बैंगलोर २

१०१) „ गुलाबचन्दजी भवरलालजी सकलेचा,
मलेश्वरम बैंगलोर २

१०१) „ भभूतमलजी देवड़ा, बेनी मिल्स रोड़ बैंगलोर २

१०१) „ पन्नालालजी रतनचन्दजी कांकरिया,
सपींग्स रोड़ बैंगलोर १

१०१) „ उदयराजजी भीकमचन्दजी खींवसरा,
सपींग्स रोड़ बैंगलोर १

१०१) „ पुखराजजी मूथा, सपींग्स रोड़ बैंगलोर १

१०१) „ गणेशमलजी लोढ़ा सपींग्स रोड़ बैंगलोर १

१०१) „ नेमीचन्दजी चांदमलजी सियाल,
सपींग्स रोड़ बैंगलोर १

१०१) „ भवंरलालजी बीसूलालजी समदड़िया,
सपींग्स रोड़ बैंगलोर १

१०१) „ हीराचन्दजी फतहराजजी कटारिया,
फेवेलरी रोड़ बैंगलोर १

१०१) „ मिश्रीलालजी भंवरलालजी बोहरा,
मारवाड़ी बाजार बैंगलोर १

१०१) „ दुलराजजी भंवरलालजी बोहरा, अलसूर बैंगलोर ८

१०१) श्री सेठ अमोलकचन्दजी लोढ़ा तिमिया रोड़ बैंगलोर ८

१०१) „ जवानमलजी भवरलालजी लोढ़ा „ बैंगलोर १

१०१) श्री सेठ मिट्ठालालजी खुशालचन्दजी छाजेड
तिमिया रोड़ बैंगलोर १

१०१) ” मोतीलालजी छाजेड़ ”

१०१) ” भंवरलालजी बांठिया ”

१०१) ” जेवतराजजी भवरलालजी लूनिया ”
भारतीनगर बैंगलोर १

१०१) ” लक्ष्मीचन्द C/o मोतीलालजी माणकचन्दजी कोठारी
नं० ३२ D. अरुनाचलम मुदलियार स्ट्रीट बैंगलोर १

१०१) ” पुखराजजी लूंकड़ की धर्मपत्नि श्रीमती गजरा बाई
चिक पैठ बैंगलोर २

१०१) ” जी० नेमीचन्दजी सकलेचा
ओल्डपुर हाउस रोड़ बैंगलोर १

१०१) ” लखमीचन्दजी खारीवाल स्वस्तिक इलेक्ट्रिक
हनुमान बिल्डिग चिक पैठ बैंगलोर २

१०१) श्री गुप्तदान (एक सज्जन की ओर से) शूले बाजार बैंग०

१०१) ” रामलालजी मांडोत, शिवाजी नगर बैंगलोर १

१०१) ” पुखराजजी मांडोत क्लौक पल्ली ” १

१०१) ” पुखराजजी पोरवाल,
चिक बाजार रोड़ शिवाजी नगर बैंगलोर १

१०१) श्री सेठ अम्बूलालजी धर्मराजजी रांका,
एंलगुण्ड पालियम बैंगलोर १

१०१) ” चम्पालालजी रांका, ओल्डपुर हाउस रोड़ बैंगलोर १

१०१) ” केसरीमलजी मिश्रीमलजी गोठी,
५५ काशीमोर रायपुरम मद्रास १३

१०१) श्री सेठ जुगराजजी पुखराजजी खीवसरा,
सजोड़े अट्ठाई के उपलक्ष में
६/५८ वरकीट रोड़ टी नगर मद्रास १७
१०१) ,, कपूरचन्द्जी एन्ड सुतरिया,
१८ मिन्ट स्ट्रीट साऊकार पेट मद्रास १
१०१) उगमबाई की तपस्या के उपलक्ष में
C/o जी० रघुनाथमलजी ४१६ मेन बाजार वैल्लुर
१०१) श्री सेठ भभूतमलजी जीवराजजी मरलेचा,
नगरथ पैठ बैंगलोर २
१०१) ,, शान्तिलालजी छोटालालजी, एवेन्यु रोड़ बैंगलोर २
१०१) ,, हिम्मतमलजी माणकचन्द्जी छाजेड,
अलसूर बाजार बैंगलोर
१०१) ,, घीसूलालजी मोहनलालजी सेठिया, अशोका रोड़ मैसूर
१०१) ,, मेघराजजी गदिया, अशोका रोड़ मैसूर
१०१) ,, गुलाबचन्द कन्हैयालालजी गदिया, आरकोनम् मद्रास
१०१) श्रीमती सरस्वती बहिन C/o मणिलाल चतुरभाई
नवरगपुरा एलीस ब्रिज बस स्टेन्ड के सामने, अहमदाबाद
१०१) श्री सेठ मिश्रीलालजी लूकड़ त्रिवल्लूर मद्रास
१०१) ,, मानमलजी भंवरलालजी छाजेड़ ,,
पलुमर रोड़ उरगम के० जी० एफ०
१०१) ,, पुखराजजी अनराजजी कटारिया आरकोनम
१०१) श्रीमती अ०सौ०कचनगोरी धर्मपत्नी श्री नवलचन्दजी दोसी
C/o बोम्बे आपटीक्लब १७ सी ब्रोडवे मद्रास १
१०१) श्री सेठ हेमराजजी लालचन्दजी सीघवी
नम्बर ११ बड़ा बाजार रायपेट मद्रास १४

१०१) श्री सेठ अमोलकचन्द भंवरलाल विनायकीया,
१D२/१३१ माऊन्ट रोड़ थाऊजेन्ट लाईट मद्रास ६
१०१) ,, वरजीवन पी० सेठ, ठी० सुलतान बाजार
इन्द्र बाग हैदराबाद (आंध्र प्रदेश)
१०१) ,, खिवराजजी चोरड़िया, नं० ३६ जनरल मुथैय्या स्ट्रीट
साहूकार पेठ मद्रास नं०१
१०१) श्रीमान् सेठ जवतमलजी मोहनलालजी चोरड़िया न० ७
वजार रोड़ मैलापुर मद्रास ४
१०१) ,, माणजी भगवानदासजी ६४ मिन्ट स्ट्रीट जी०पी०ओ०
बोक्स नम्बर २८२ साहुकार पेट मद्रास १
१०१) ,, शम्भुमलजी मदनलालजी वैद्य नं० ८ बजार रोड़
मैलापुर मद्रास ४
१०१) ,, शम्भुमलजी माणकचन्दजी चोरड़िया नं० १५ बजार
रोड़ मैलापुर मद्रास ४
१०१) ,, भिकमचन्दजी सुराणा नं० ३३ पी०पी० वी० कोयल
स्ट्रीट मैलापुर मद्रास ४
१०१) ,, एच० सूरजमलजी जैन नं० ६७/१८ उसमान रोड़
टी नगर मद्रास १७
१०१) ,, गुलाबचन्दजी घीसुलालजी मरलेचा बाजार रोड़
पल्लावरम
१०१) ,, सोजत रोड़ निवासी गणेशमलजी राजमलजी मरलेचा
रेढहिल्स मद्रास
१०१) श्रीमती चम्पाबाई और सामर बाई की ओर से C/o श्रीमान्
सेठ जुगराजजी पारसमलजी लोढ़ा २६ बजार रोड़
सेदा पेठ मद्रास १५
१००) ,, मनीलालजी एन्ड सन्स १७२ नेताजीबोस रोड़ मद्रास १

१०१) श्री सेठ एस० रतनचन्दजी चोरड़िया ५ रामाजियम आयर स्ट्रीट इलीफैन्ड गेट मद्रास १

१०१) " एस० जेवतराजजी खिवेसरा नागलापुरम (तालुका) सतीवेड (जिला) चितुर

१०१) " सी० चान्दमलजी टिन्डीवरम

१०१) " गुलाबचन्दजी घीसुलालजी मरलेचा ४६ बाजार रोड पल्लावरम

१०१) " दीपचन्दजी पारसमलजी मरलेचा चंगलपेठ

१०१) " वकतावरमलजी मिश्रीमलजी-मरलेचा तिरकुलिकुण्डम

१०१) " गनेशमलजी जवन्तराजजी मरलेचा तिरकुलिकुण्डम

१०१) " सुजानमजी बोहरा की धर्मपत्नी शान्तिकंवर के सजोड़े त्याग के उपलक्ष में C/o सेठ सुजानमलजी बोहरा गांव सियाली (जिला) तन्जावर

१०१) " जशराजजी सिंघवी की धर्मपत्नी सायर बाई ने सजोड़े ब्रह्मचर्य व्रत धारन करने के उपलक्ष मे C/o सेठ जशराजजी देवराजजी सिंघवी गाव वलवानूर

१०१) " विजयराजजी नेमीचन्दजी बोहरा " "

१०१) " प्रेमराजजी महावीचन्दजी भडारी " "

१०१) " आईदानजी गोलेछा की धर्मपत्नी गोराबाई ने सजोड़े ब्रह्मचर्यव्रत धारन करने के उपलक्ष में C/o सेठ आईदानजी अमरचन्दजी गोलेछा जवेलर्स त्रिल्लूपुरम

१०१) " चुन्नीलालजी नाहर के सजोड़े शीलव्रत धारन करने के उपलक्ष में C/o चुन्नीलालजी धरमीचन्दजी नाहर गांव अरगडनल्लूर (स्टेशन) तिरकोम्ल्लूर

१०१) श्री सेठ एच० चन्दनमलजी एण्ड को० नम्बर ६७ नयनापा-
नायक स्ट्रीट मद्रास ३

१०१) " एस बनेचन्दजी घीजराजजी भटेवड़ा नम्बर ४२४ मेन
बाजार वैलुर

१०१) " एन० गेवरचन्दजी सोषनराजजी भटेवड़ा नम्बर ४११
मेन बाजार वैलुर

१०१) " नेमीचंदजी ज्ञानचदजी गुलेछा नं० ७५ " "

१००) " बाबूलालजी केशवलालजी शाह (पालनपुर निवासी)
C/o इस्टर्न ट्रेडर्स सेन्ट थरेस स्ट्रीट पांडीचेरी

१००) " डायालाल मणीलाल शाह (पालनपुर निवासी) C/o
जेम्स एण्ड कम्पनी रंगापिल्लाई स्ट्रीट पांडीचेरी

१०१) " कान्तिलाल लालजी भाई भसाली (पालनपुर निवासी)
C/o चेरी ट्रेडर्स दी त्यागमुदली स्ट्रीट पांडीचेरी

१०१) " नन्दलालजी कोठिया C/o सेठ चीरंजीलालजी महावीर
प्रसादजी जैन भरतपुर (राजस्थान)

११) " रसिकलालजी अमृतलालजी पारिख (पालनपुर निवासी)
C/o सेन्ट थैरस स्ट्रीटलेन पांडीचेरी

११) " नानालालजी फोजाभाई कोठारी (पालनपुर निवासी)
C/o एन० एफ कोठारी १५/१२ सेन्ट थेरेस स्ट्रीटलेन
पांडीचेरी

११) " प्रवीणभाई चम्पकलालजी मेहता (पालनपुर निवासी)
C/o जेम्स अण्ड कम्पनी रंगापिल्लाई स्ट्रीट पांडीचेरी

११) " बाबूलालजी दलछाचन्दजी शाह (पालनपुर निवासी)
C/o एस. वछराजजी नं ६ लबोरदनी स्ट्रीट पांडीचेरी

११) श्री सेठ वैद्य केसरीमलजी भंसाली (पालनपुर निवासी)
C/o श्री अरविंद आश्रम पांडीचेरी

११) " मनसुखलालजी पी० वोरा (कच्छ निवासी) C/o
शक्ति स्टोर्स पांडीचेरी

११) " प्राणलालजी देवराजजी डोशी नं० ५० रंगापिल्लाई
स्ट्रीट पांडीचेरी

विषयानुक्रमणिका

卐卐

❀ ओम् अर्हम् नमः ❀

चरणचिह्न

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र–
पाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ ।
रंगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्रा–
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥

卐卐

श्रीमानतुङ्गाचार्य ने अपने लोहमय बन्धनों को छिन्नभिन्न करने के लिए भगवान् ऋषभदेव की स्तुति का निर्माण किया। वही स्तुति अपने आद्य पद 'भक्तामर' के कारण भक्तामरस्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस स्तोत्र के ४४ वें पद्य में आचार्य महाराज कहते हैं—

हे जगदुद्धारक ! आपके समस्त संतापों का शमन करने वाले परमपावन-नाम में अद्भुत सामर्थ्य है। कोई यात्री किसी महासागर में यात्रा कर रहे हों। वह महासागर क्षोभ को प्राप्त भयानक मगरों, पाठीनों और पीठों से भरा हुआ हो। उसमें

प्रचण्ड वडवानल अपनी करामात पूरी तरह प्रदर्शित कर रहा हो। प्रबल तूफान आने से गगनस्पर्शिनी तरंगें उछल रही हों। अकस्मात् उत्पन्न हुए इस उपद्रव में उनका जहाज फँस गया हो और डगमगाने लगा हो और उसके बचने की कोई सम्भावना न दिखलाई देती हो। ऐसी अतीव भयंकर स्थिति में भी यदि वह यात्री आपका स्मरण करते हैं, तो 'ॐ असभ १' इस प्रकार स्मरण करते ही समुद्री तूफान शान्त हो जाता है और उनका जलयान सकुशल तट तक पहुँच जाता है। प्रभो! आपके नाम में ऐसी अद्‌भुत शक्ति है।

आपने श्रीपाल राजा के विषय में सुना होगा। जब वह जहाज द्वारा, विदेशयात्रा से, विपुल धनराशि उपार्जित करके और आठ सुन्दरियों के साथ विवाह करके उनके साथ वापिस लौट रहे थे, तब उसी जहाज से यात्रा करने वाले धवल सेठ की नीयत बिगड़ गई। उसके मन में पापमयी भावना उत्पन्न हुई। उसने सोचा-अहो, श्रीपाल खाली हाथ आया था और आज इतने वैभव का स्वामी बन गया है। एक से एक बढ़ कर सुन्दरी आठ तरुणियां इसके पार्श्व में हैं। अगर किसी प्रकार धक्का देकर इसे समुद्र में गिरा तो इसका सारा धन मेरा बन जाएगा और यह आठ दिशाकुमारियों के समान रमणियां मेरे अधीन हो जाएँगी इनके साथ भोगोपभोग भोगने से मेरा जीवन सफल और सुखी बन जाएगा।

दुर्भावनाएं मानव को किस प्रकार पतित बना देती हैं स्वार्थान्ध हो कर मनुष्य जघन्य से जघन्य पापकृत्य करने में भी संकोच नहीं करता।

धवल सेठ ने अपने कुत्सित और पाशविक विचार को कार्य रूप में परिणत करने के लिए श्रीपाल को अपने सन्निकट बुलाया और कहा—देखना, देखना यह कैसा अद्भुत जलजंतु है। और ज्यों ही श्रीपाल ने उसके वचनों पर विश्वास करके, झुक कर समुद्र की ओर झांका, उसने जोर का धक्का दे दिया। धक्का लगते ही श्रीपाल समुद्र में जा गिरा।

श्रीपाल की कल्पना भी न थी कि धवल सेठ उसके साथ इस प्रकार विश्वासघात करेगा। समुद्र में गिरते ही वह समझ गया कि धवल सेठ ने मेरे साथ धोखा किया है। मगर उसकी आत्मा धार्मिक संस्कारों से विभूषित थी। अतएव उसने आर्त्त-रौद्र ध्यान को मन में स्थान नहीं दिया और पंचपरमेष्ठीमंत्र का जाप करना आरम्भ किया। णमोकारमंत्र में अचिन्त्य शक्ति है। वह सकल श्रुत का सार और समस्त मंगलों में प्रधान मंगल है। मनुष्य के समस्त दुःखों को दूर करने का अनुपम उपाय और श्रेष्ठ साधन है। श्रीपाल ने ज्यों ही णमोकारमंत्र का जाप किया कि एक मच्छ सहसा उसके नीचे आया और श्रीपाल उसकी पीठ पर आरूढ़ हो गया। मच्छ बड़ी तेजी के साथ चला और शीघ्र ही उसने किनारे पर पहुँचा दिया।

भगवान् के नाम के स्मरण का यह माहात्म्य है। कैसा भी भीषण संकट क्यों न हो, मनुष्य यदि सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ भगवत्नाम का सहारा लेता है तो निश्चय ही उसका संकट जाता है।

विक्रम सं० २००४ की घटना है। मेरा चौमासा वेरावल में था। जमनादास भाई नामक सज्जन ने एक आप बीती घटना

सुनाई थी उन्होंने कहा-महाराज, ऐडन में हमारी दुकान है। वहां से हम जहाज में बैठकर आ रहे थे। सहसा हमारा जहाज समुद्र में डूबने लगा। उसी समय मैंने नमस्कार मन्त्र का जाप करना प्रारम्भ किया। उसके प्रभाव से देखते ही देखते हमारा जहाज २४ घंटों में फिर ऊपर आ गया। यद्यपि इस दुर्घटना में कितने ही लोगों के प्राण चले गये, किन्तु मेरे प्राणों की रक्षा हुई। मैं सही-सलामत अपने घर पहुँचा। महाराज! आज मेरा यह जीवन बचा है सो नमस्कार मन्त्र के ही प्रबल प्रभाव का फल है।

इस घटना ने जमनादास भाई के जीवन पर बहुत प्रभाव डाला। उनकी श्रद्धा विशेष गहरी और दृढ़ हो गई। मेरे चातुर्मास के समय उनके सारे वयस्क परिवार ने अठाई की तपस्या की और धर्मध्यान किया।

भगवान् के नाम की महिमा अपार है। समुद्र में डूबता हुआ मनुष्य भी अगर प्रभु के नाम का स्मरण करता है तो वह सकुशल किनारे लग जाता है। उसके विकट से विकट संकट भी झटपट कट जाते हैं।

ज्ञानी पुरुषों ने इस संसार को भी समुद्र की उपमा दी है। यह संसार-सागर अथाह दुःख रूपी जल से परिपूर्ण है। आत्मा रूपी जहाज इसमें छोड़ दिया गया है। जब इस समुद्र में जन्म-जरा-मरण रूपी तूफान आता है तो जहाज का चालक मन सहसा डांवाडोल हो जाता है, उसकी स्थिरता भग्न हो जाती है। किन्तु ऐसी परिस्थिति में भी यदि भगवान् के नाम का स्मरण किया जाय तो समस्त तूफान शान्त हो जाता है। प्रभु के

पावन नाम के प्रभाव से आत्मा सकुशल संसार सागर के पार पहुँच जाता है। मगर इसके लिए हृदय में अविचल श्रद्धा होनी चाहिए।

एक कवि सच्चे हृदय से भगवान् के चरणों में निवेदन कर रहा है:—

भव-सागर में मेरी नौका,
हां मेरी नौका, आन पड़ी मझधार।
जल्दी से सम्भालना॥
श्री ऋषभदेव भगवान् करो तो मेरी पालना॥ टेर॥
संकटमोचन विरुद आपको,
हां विरुद आपको।
निराधार आधार, कर्म-रिपु गालना॥
ओ ऋसभ! तु ही मम रक्षक,
हां तू ही मम रक्षक,
तू ही मेरा सिरताज फंदे से निकालना॥

भाइयों! तीर्थंकर भगवन्तों का नाम संसार-सागर में डूबते हुए प्राणियों के लिए लोकोत्तर नौका के समान है। जो भी प्राणी इस नौका का अवलम्बन लेता है, वह आसानी से किनारे लग जाता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य का जीवन नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों एवं कष्टों से परिपूर्ण है। दुःखों की तीव्र ज्वालाओं में जलता हुआ प्राणी यदि भगवान् के नाम का स्मरण करता है तो उसे निश्चय ही अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है उसके समस्त सतापों की उपशान्ति हो जाती है।

यही बात पर्युषण पर्व के द्वितीय दिवस अन्तकृद् दशांग सूत्र के आधार-से समझाई जा रही है। प्रस्तुत सूत्र के तीसरे वर्ग में तेरह अध्ययन हैं। उनमें से छह अध्ययन कल आपको सुनाये जा चुके हैं। आज सातवां सारनकुमार का अध्ययन भी आप सुन चुके है। आठवां अध्ययन गजसुकुमारजी से संबंधित है।

इस अध्ययन में बतलाया गया है कि-द्वारिका नगरी में वसुदेव राजा थे। उनकी महारानी का नाम देवकी था। उनके प्रतापशाली पुत्र कृष्ण वासुदेव भरत क्षेत्र के तीन खण्ड के स्वामी थे।

एकबार भगवान् अरिष्टनेमि के साथ छह अनगार जो एक-सी शक्ल-सूरत के थे और जिनकी उम्र में भी अन्तर प्रतीत नहीं होता था, द्वारिका नगरी में पधारे छहों मुनिराजों के वेला की तपस्या का पारणा दिवस था। अतएव दो दो मुनि तीन युगल बनाकर अलग-अलग घरों में भिक्षा के लिए रवाना हुए। उनमें से एक युगल महारानी देवकी के महल में पहुँचा। देवकी मुनियों को देखते ही अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने अपने आपको धन्य माना। अत्यन्त विनय और आदर के साथ यथोचित उपचार करके महारानी ने हर्ष पूर्वक उन्हें सिंहकेसरी मोदक बहराये।

इन मुनियों के चले जाने के पश्चात्, थोड़ी देर बाद, दो मुनियों का दूसरा युगल भी अटन करता-करता संयोगवश महारानी देवकी के महल में जा पहुँचा। महारानी ने उसी हर्षित भाव से उन्हें भी वही मोदक बहराये।

अकस्मात् ही समझिए कि उनके जाने के बाद तीसरा युगल भी वहीं जा पहुँचा। देवकी ने उन्हें भी उसी हर्ष और आदर के साथ सिंहकेसरी मोदकों की भिक्षा दी। मगर इस बार देवकी रानी के मन में विचार आया कि यह मुनिराज तीन बार मेरे यहां भिक्षा ग्रहण करने क्यों आए? द्वारिका नगरी ३६ कोस की चौड़ाई मे और ४८ कोस की लम्बाई में वसी हुई विशाल नगरी है। इसमें तीर्थङ्कर के उपासक अनेक उदार, दानशील और भक्तिमान् श्रावकजन निवास करते हैं। फिर क्या कारण है कि मुनियों को आहार-पानी की सुविधा नहीं मिलती? सुविधा मिलने पर मुनि बार-बार मेरे यहां नहीं आ सकते। यदि यह कल्पना सत्य है तो मेरे लिए दुर्भाग्य की बात है। द्वारिका की महारानी होने के नाते मैं इस उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकती।

देवकी ने अपने मन में उत्पन्न हुए विचार उन मुनिराजों के समक्ष प्रस्तुत कर दिये। मुनिराजों ने सोचा—सभव है, वास्तविकता प्रकट न करने से देवकी रानी के चित्त में यह भाव उत्पन्न हो जाय कि यह मुनि लालची हैं और उत्तम मोदकों के लोभ से बार बार आए हैं। ऐसा हुआ तो सघ की लघुता होगी। इस प्रकार विचार करके उन्होंने कहा—महारानी, भद्दिलपुर में हमारा जन्म हुआ है। नाग नामक गाथापति हमारे पिता और सुलसा हमारी माता है। जो छह मुनि आपके महल में आए हैं, वे सगे भाई हैं। तीनों बार अलग-अलग युगल आपके यहां आए हैं—कोई भी मुनि दूसरी बार नहीं आया है। हम छहों भाई सम्पन्न घर से निकले हैं। बत्तीस-बत्तीस कन्याओं के साथ हम लोगों का विवाह हुआ था। हमारे घर में इतना सोना और

जवाहरात था कि उससे हाथी भी ढँक जाए। दहेज में भी प्रचुर धन मिला था। परन्तु एक बार भगवान् नेमिनाथ भूतल को पावन करते हुए और अपने ज्ञानसूर्य की प्रखर किरणों से जन-मानस में व्याप्त अज्ञानान्धकार को तिरोहित करते हुए भद्दिलपुर पधारे। भगवान् की सुधामयी देशना श्रवण कर हम सब भाइयों के हृदय में संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न हुई। विषय विष के समान और भोग भुजंग के समान प्रतीत होने लगे। हमारा मोह दूर हो गया और हमने समझ लिया कि वास्तविक सुख त्याग में है, भोग में नहीं। भोग आकुलता उत्पन्न करते हैं और त्याग से निराकुलता उत्पन्न होती है। सच्चा सुख निराकुलता में ही निहीत है। अगर हम लोगों में ही गृद्ध रहे और साधना के प्रशस्त पथ पर अग्रसर न हुए तो दुर्गति के पात्र बन जाएँगे। दुर्गति से बचने के लिए और पूर्वसंचित कर्मों और विकारों को विनष्ट करके शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिए हमने प्रभु का अन्तेवासी बनने की इच्छा प्रकट की। प्रभु ने अत्यन्त अनुग्रह करके हम छहों भाइयों को अपनी शरण में ग्रहण कर लिया। हम गृहस्थी त्याग कर अनगारदीक्षा से दीक्षित हुए और ज्ञान एवं चारित्र की आराधना करके आत्मकल्याण कर रहे हैं। यथाशक्ति बेले-बेले की तपस्या करते हैं। महारानी, आज तपस्या की पारणा का दिन था। हम तीन सिंघाड़ों में निकले थे। अतएव यह विचार न कीजिए कि द्वारिका में भिक्षा दुर्लभ है अथवा हम आहारलोलुप हैं।

मुनिराज के इस स्पष्टीकरण से महारानी देवकी का सन्देह दूर हो गया। तत्पश्चात् वह दोनों मुनि आहार लेकर वापिस चले गये। मुनियों के जाने के पश्चात् देवकी के चित्त में विचारों का

तूफान चलने लगा। एक अतीतकालीन घटना की उसे स्मृति आई। वह सोचने लगी—मैं देवक राजा की पुत्री हूँ। उसके भाई उग्रसेन के पुत्र कंस और अयवन्ता थे। अयवन्ता मुनि बन चुके थे। एक बार अयवन्ता मुनि हमारे द्वार पर भिक्षा के लिए आए। उन्हें साधुवेष में देख कर मेरी भौजाई जीवयशा, जो जरासंध की बेटी थी और जिसे तीन खण्ड के अधिपति की पुत्री होने का नशा था और जो इस नशे में पूरी तरह छकी हुई थी, मुनिराज से कहने लगी—ऐ देवर! तुम्हें जरा भी लज्जा का अनुभव नहीं होता! एक भाई राज्य का उपभोग कर रहा और दूसरा भाई हाथ मे झोली लेकर द्वार द्वार पर भीख मांगता फिरता है।

तो भाई, हँसी-मजाक बराबरी वालों के साथ किया जाता है। मुनिराज के साथ उसका गुरु-शिष्य का नाता था। गुरु आदरणीय और अभिवन्दनीय होते हैं, उनके साथ हास्य-विनोद करना मर्यादा का अतिक्रमण करना है।

मुनिराज भी आखिर छद्मस्थ थे। इस प्रकार आक्षेपयुक्त मजाक सुन कर उन्हें आवेश आ गया। कोई कितना ही शान्त क्यों न हो, तथापि कटुवचन सुनने पर कदाचित् क्रोध का आविर्भाव हो ही जाता है। कहा है—

अति शीतलता क्या करे, दुश्मन को बहु लाग।
घिसते घिसते होत है, चन्दनमुख पर आग॥

'चन्दनं शीतल लोके' अर्थात चन्दन स्वभाव से ही शीतल होता है, फिर भी बिना पानी पत्थर पर घिसा जाय तो उससे भी आग उत्पन्न होती है। इसी प्रकार सन्त पुरुष भी

शान्त होते हैं, कषायों को जीतने का सदैव उद्योग करते हैं, फिर भी कभी-कभी गर्मी का प्रसंग आ ही जाता है।

अयवन्ता मुनि स्वभावतः शान्तचित्त थे, मगर भौजाई की तानाकशी ने उन्हें उत्तेजित कर दिया। उनके हृदय में क्रोध की एक हल्की-सी लहर उत्पन्न हुई। तब उन्होंने उससे कहा—जीवयशा! तुमको कंस की पत्नी होने का इतना बड़ा अहंकार है। मगर याद रक्खो, इस संसार में किसी का भी अभिमान स्थिर नहीं रहा। अभिमान अधःपतन का कारण है। आज जो अहंकार से मस्तक ऊँचा किये है, कल उसे मस्तक नीचा करना पड़ेगा। एक कवि कहता है—

किया गरूर गुल ने, रूप रंग बू का।
मारे हवा के झौंके, शबनम ने मुँह मे थूका॥

जब गुलाब के फूल की पंखुड़ियां खिल उठती हैं तो वह समझता है—कौन दुनिया में मेरी समानता कर सकता है! मगर उसका यह अभिमान क्या टिकाऊ होता है? हवा के झौंके आते हैं और ओस के बिन्दु पड़ते हैं और गुलाब का वह खिला हुआ फूल कुछ ही समय में धरती पर पड़ा नजर आता है। वह जिस रूप-रंग पर इतराता था और जिस सौरभ के अहंकार के वशीभूत होकर फूला नहीं समाता था, वह सब सहसा समाप्त हो जाता है। उसका अभिमान धूल में मिल जाता हैं।

हां, तो अयवन्ता मुनि ने भौजाई से कहा—देखो, यही देवकी, जिसका तू माथा गूंथ रही है, आठ पुत्रों को जन्म देगी।

नमें से सातवां पुत्र तेरे पति का वध करके तुझे कोने में बिठ-
ाएगा—वैधव्य का भागी बनाएगा।

छद्मस्थावस्था में निकले हुए यह वचन थे। अयवन्ता मुनि
उस समय केवली तो थे नहीं, किन्तु होनहार होकर ही रहती
है। कहा है—

होनहार सो होत है, विसर जात है बुद्ध।
जैसी जो भवितव्यता, वैसी उपजै बुद्ध॥

मुनि ने भविष्य की झांकी देखी और गर्वीली भौजाई के
गर्व को चूर करने के लिए वाणी द्वारा व्यक्त कर दी।

तो मुनियों के चले जाने के अनन्तर देवकी को अतीत की
वह घटना स्मरण हो आई। अयवन्ता मुनि के वचन थे कि
मुझे आठ पुत्रों की प्राप्ति होगी। मगर वे पुत्र कहां हैं? मैंने
कृष्ण की शक्ल सूरत के छह मुनि आज देखे हैं। मुनि का कथन
अन्यथा नहीं हो सकता, इसमें लेश मात्र भी संशय नहीं है।
तो फिर इसमें क्या रहस्य है।

देवकी रानी इस प्रकार विचार करते-करते गहरी चिन्ता
के सागर में निमग्न हो गई। उसका मन भारी हो गया। जैसे
चारों ओर सीमातीत अन्धकार में भटकने वाला मानव आलोक
की किरण पाने को उत्कंठित हो जाता है, इसी प्रकार देवकी
अपने मन का समाधान पाने के लिए व्यग्र हो उठी, तभी उसे
ध्यान आया कि तीनों कालों और तीनों लोकों को हस्तामलकवत्
स्पष्ट जानने-देखने वाले भगवान् अरिष्टनेमि जब यहीं पधारे हैं
तो मुझे परेशान होने की क्या आवश्यकता है? भगवान् के

चरणों में उपस्थित होकर अपने सन्देह का निवारण क्यों न कर लूँ !

यह विचार उत्पन्न होते ही देवकी को बड़ी सान्त्वना मिली। हृदय पर लदा हुआ भार जैसे हट गया। वह उसी समय रथ पर आरूढ़ होकर भगवान् अरिष्टनेमि की सेवा में जा पहुँची। यथोचित वन्दना-नमस्कार करने के पश्चात् सामने खड़ी हुई। तब भगवान् ने मानों अमृत सींचते हुए फर्माया–देवकी ! आज छह मुनियों को देखकर तुम्हें विचार उत्पन्न हुआ कि मुनिराज अयवन्ता ने जो भविष्यवाणी की थी, उसका क्या हुआ ? किन्तु मुनि का कथन अन्यथा नहीं हो सकता और न हुआ है। तुमने कृष्ण की सी सूरत के जिन छह मुनियों को आज देखा है, निस्सन्देह वे तुम्हारे ही पुत्र हैं, तुम्हारी ही कूंख से उनका जन्म हुआ है।

देवकी की प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं रही। मगर हृदय में उत्पन्न हुई उलझन को सुलझाने के लिए उसने कहा–प्रभो ! वे मेरे पुत्र कैसे हो सकते हैं ? वे तो भद्दिलपुर की गाथापतिनी सुलसा के आत्मज हैं।

तब भगवान् ने कहा–तुम इस रहस्य को नहीं जानती। तुमने इधर इन पुत्रों को जन्म दिया और उधर सुलसा ने छह लड़कियों का प्रसव किया। किन्तु वे लड़कियां मरी हुई जन्मीं। हरिणगमेषी देवता ने तुम्हारे पुत्रों को हरण करके सुलसा के समीप पहुँचा दिया और उन सद्यःप्रसूत मृत लड़कियों को तुम्हारे पास रख दिया।

सुलसा जब अपनी मां की गोद में थी, तभी उसकी माता ने भविष्यवेत्ता से पूछा था कि मेरी लड़की का भाग्य कैसा है ? तब भविष्यवेत्ता ने कहा था–इसके छह कन्याएँ उत्पन्न होंगी, किन्तु मरी हुई होंगी तब माता ने कहा–पुत्र होने का कोई उपाय बतलाइए। तब भविष्यवेत्ता ने उत्तर दिया–इस प्रकार के काम करने वाला हरिणगमेषी देवता है। उसकी आराधना करने से कोई उपाय निकल सकता है। उसने वैसा ही किया। हरिणगमेषी देवता की भक्तिपूर्वक आराधना की। लड़की का विवाह हुआ और यथा समय वह गर्भवती हुई। जब सुलसा ने मृतक पुत्री को जन्म दिया और तुमने पुत्र को जन्म दिया तो देवता ने पुत्र-पुत्रियों को इधर से उधर कर दिया। इस प्रकार तुम्हारे यह छहों पुत्र सुलसा के घर बड़े हुए और समय पाकर साधु बन गये। अतएव यह तुम्हारे ही आत्मज हैं, न कि सुलसा के।

भगवान् ने वास्तविकता पर पड़ा हुआ आवरण सहसा हटा दिया। देवकी का मातृहृदय अपार हर्ष से विकसित हो उठा। आनन्द की सीमा न रही। उसने अपने अंगजात मुनियों के पास जाकर और जी भरकर उन्हें देखकर अपने नेत्रों को सार्थक करने का विचार किया। वह भगवान् के पास से उन मुनियों के पास गई और उन्हें अनिमेष दृष्टि से देखने लगी। लगातार देखते रहने से उसकी मातृममता जाग उठी। वह प्रबल मोह से अभिभूत हो उठी। उसका वक्षस्थल फूल उठा और कंचुकी के डोरे तड़ाक से टूट गये। स्तनों से दूध की धार बह उठी।

काफी देर तक टकटकी लगाकर देखते रहने के बाद भी देवकी को तृप्ति नहीं हो सकी। दिल चाहता था कि इन्हें देखती

ही रहूँ और हृदय के किसी कोने में छिपाकर रख लूँ। मगर व्यवहार के अनुरोध से उसे अपने घर लौटना पड़ा।

महारानी देवकी तन से अपने महल में लौट गई, मगर मन उसका वहीं, अपने असामान्य छह पुत्रों के पास ही, रह गया। महल में आने के अनन्तर भी उसके मन में अपने वेटे ही चक्कर काटते रहे। उसने सोचा-मैं ऐसे असाधारण रूप सम्पत्ति और गुण सम्पत्ति के धनी पुत्रों को जन्म देने से भाग्य-शालिनी बनी, मगर फिर भी अभागिनी ही रही। यह छह लड़के सुलसा के घर में पले, बड़े हुए। कृष्ण का गोकुल में यशोदा के घर पालन-पोषण हुआ। एक भी लड़के के शैशव का सुख मैं न पा सकी। कृष्ण मेरे पास रहता है, मगर तीन खण्ड का नायक होने के कारण छह महीने में एकवार मेरे पास आता है। सौभा-ग्यशालिनी होकर भी मैं कितनी अभागिनी हूं।

देवकी महारानी इस प्रकार चिन्ता में डूबी हुई अपनी सुध-बुध भूली बैठी थी। संयोग से उसी दिन कृष्ण महाराज की देवकी माता के चरणों में वन्दना करने की वारी थी। कवि कहता है—

सब हरि सिणगार बनाया, माता का दर्शन पाया।
चरणों में शीश नमाया रे॥
बोलो बोलो मांजी मन खोली,
सब वातें हिया में तोली रे॥ टेर॥

कृष्ण महाराज स्नान करके और पूरी तरह शृङ्गार सज कर माता देवकी को नमस्कार करने पहुँचे। मगर उन्होंने देखा—

माता चिन्तित अवस्था में हैं, तब उन्होंने चरणों में गिर कर और फिर हाथ जोड़ कर कहा—माताजी, मैं तुम्हारा बेटा हूँ और तुम मेरी जननी हो। मेरे रहते भी तुम्हें किसी भी कारण से यदि चिन्ता रही तो फिर मेरा होना किस काम का। अतएव तुम्हारे मन में जो भी चिन्ता हो, मुझे स्पष्ट कहो, किसी प्रकार का सकोच मत करो।

कृष्ण का कथन सुन कर देवकी को होश आया जैसे सो कर जागी हो। उन्होंने कहा—वत्स, तुम कब आए मुझे पता ही नहीं चला। संसार में हजारों-लाखों माताएँ हैं, किन्तु मुझ जैसी दुखिनी तो शायद मैं ही हूँ।

माता के इन दुःखभरे शब्दों को सुन कर श्रीकृष्ण बोले- मां, तुम्हारे दुःख का कारण मैं नहीं जानता। आखिर बतलाइए तो सही। मैं अवश्य उसके निवारण का प्रयत्न करूँगा।

तब ठंढी सांस लेते हुए देवकी ने छह मुनियों के आगमन का, स्वय के भगवान् नेमिनाथ के निकट जाने का भविष्यवाणी की यथार्थता का निर्णय करने का वृत्तान्त कहा अन्त मे कहा—मैं अपने इस अभाग्य पर शोकाकुल हूं कि मुझे किसी भी लाल के लालन-पालन का सुख अनुभव न हो सका। एक तू है। जो समीप रहता हुआ भी दूर-सा रहता है और छह महीना बीतने पर एक बार मेरे पास आता है।

भाइयो, माता का हृदय अतीव ममतामय होता है। यों तो संसार में अनेक प्रकार के नाते-रिश्ते हैं मगर माता पुत्र के सम्बन्ध की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। पुत्र, माता का दूसरा कलेजा होता है।

तो कृष्ण ने देखा कि आज माता के हृदय में वात्सल्य का निर्मल उभार आया है और उन्हें अपने शिशु को खिलाने की साध हो रही है, तो वह बोले–अगर शिशु को खेलाने की मन में आ रही है तो लीजिए, यह इच्छा भी पूरी कर लीजिए।

कृष्णजी ने तुरन्त वैक्रियलब्धि का प्रयोग करके छोटे से बालक का रूप धारण कर लिया। वह भोले शिशु बन कर माता की गोद में खेलने लगे। यह देख माता के मन में कुछ कुतूहल हुआ, कुछ सान्त्वना भी मिली; मगर हृदय पूरी तरह तृप्त नहीं हो सका। उन्होंने कहा–नहीं, यह नहीं, वह चाहिए। तब कृष्ण ने माता को आश्वासन देते हुए कहा—माता, मैं वैसा ही उपाय करूँगा जिससे आपकी मनोकामना पूरी होगी और आपके हृदय की पूरी तरह तुष्टि होगी।

इस प्रकार आश्वासन देकर कृष्ण अपने स्थान पर गये और सोचने लगे कि माता के मनोरथ को सम्पन्न करने के लिए क्या उपाय करना चाहिए? विचार करते-करते उन्हें हरिणगमेषी देवता का स्मरण आया। सोचा–उसीसे यह कार्य हो सकता है। तत्पश्चात् पौषधशाला में जाकर उन्होंने तेले की तपस्या अंगीकार की और हरिणगमेषी देवता को स्मरण किया। तीसरे दिन देवता ने उपस्थित होकर कहा—स्वामिन्! किस प्रयोजन से मुझे याद किया है।

कृष्णजी बोले–मुझे भाई की चाह है।

देवता ने कहा–ऐसा ही होगा। आपको लघुभ्राता की प्राप्ति होगी, किन्तु यौवन में प्रवेश करने पर वह भगवान् अरिष्टनेमि का उपदेश सुनकर संयम ग्रहण कर लेगा।

इस प्रकार आश्वासन देकर हरिणगमेषी देव अपने स्थान पर चला गया।

अब जरा जीवयशा की ओर भी ध्यान दीजिए। जब अयवन्ता मुनि भविष्यवाणी करके चले गये तो वह अत्यन्त उद्विग्न हुई। मुनि के वचन उसके हृदय में तीर की तरह चुभ गये। वह सीधी कोपभवन में जाकर पड़ गई। जब राजा कंस महल मे पहुँचा और देखा कि महारानीजी उदासचित्त होकर कोपभवन की शोभा बढा रही हैं तो वह उनके पास गया। कहा—आज इस शुभ वेला में चेहरे पर उदासी क्यों छाई हुई है ? शरीर की यह हालत क्यों बना रक्खी है ?

जीवयशा ने खिन्नभाव से कहा—क्या बताऊँ अपने दुर्भाग्य की बात। आज आपके भाई अयवन्ता मुनि यहां आए थे और शाप देकर चले गये हैं। उन्होंने कहा—

माथो गु थावे जो नारी, पुत्र रतन जणसी भारी।
सातमो नाम होसी गिरधारी।
पिता पति मार कर, थने करसी दुखयारी,
सुन भौजाई गर्व न कीजे, नहि लीजे छेह साधु तणो॥

अर्थात जिस देवकी का तू माथा गूंथ रही है, उसका सातवा पुत्र जब यौवनावस्था को प्राप्त करेगा तो तेरे पति का वध करके मथुरा पर राज्य करेगा।

अपनी पत्नी के यह शब्द सुन कर कंस अत्यन्त चिन्तित और व्याकुल हुआ और सोचने लगा—देवकी का सातवा पुत्र मेरा वध करेगा।

वह उसी समय राजसभा में पहुँचा। उसने आदेश दिया कि राजज्योतिषियों को शीघ्र बुला कर लाया जाय। तत्काल आदेश का पालन किया गया और ज्योतिर्वेत्ता विद्वान् सभा में उपस्थित हुए। राजा ने यथायोग्य सत्कार-सन्मान करके उनसे प्रश्न किया—भविष्यवेत्ताओं! आप लोग ज्योतिषशास्त्र का भली-भांति मनन एवं पर्यालोचन करके बतलाइए कि संसार में मुझे मारने वाला कौन है? किस के हाथ से मेरी मृत्यु होगी?

ज्योतिषी विद्वानों के समक्ष आज बड़ा अटपटा
उत्तर न देने में भी कुशल न थी और उत्तर न
नहीं था। मगर राजकीय आदेश की उपेक्षा
सकती थी। विवश होकर उन्होंने लग्न-प्रश्न
बनाई और फिर फलादेश करना आरम्भ किया
ग्रह नजर न आए तो चुप हो रहे।

कंस ने चुप्पी साधे देख कर
फलादेश करने में संकोच न कीजिए। मैं
जो हो, स्पष्ट कह दीजिए।

तब पण्डितों ने कहा—महाराज,
देवकी आठ पुत्रों को जन्म देंगी। उनमें
होगा। वह मल्लों को पछाड़ेगा, पूतना ने
अर्जुन वृक्ष को उखाड़ेगा, नाग को न
विवाह करेगा, आपके श्वशुर का वध
जीवन का भी अन्त करेगा। इस
आपके ही घर में जन्मेगा।

ज्योतिषियों की भविष्यवाणी सुन कर कंस विचार-सागर में डूब गया। वह सोचने लगा—अयवन्ता मुनि की वाणी से इन ज्योतिषियों की वाणी बराबर मिलती है। मुझे पानी आने से पहले ही पाल बांध लेना चाहिए। मुझे मूल ही उखाड़ फैंकना चाहिए। क्योंकि बांस नहीं होगा तो बांसुरी कैसे बजेगी? कहा है—

हेट फरी भर जोवन में,
गुरुदेव से हेत रु प्रीति न बांधी।
कामिनी-भोग में राच रह्यो,
तेने लोगों के पेट में लावड़ी रांधी।
काल का कागद आन खड़ा,
जैसे मेह गयो रु गयी नहिं आंधी।
अब क्यों सोच करे नर मूरख!
पानी पहले तू ने पाल न बांधी॥

जब कंस को मालूम हो गया कि इस निमित्त से मेरी मृत्यु होने वाली है, तो उसने उसे रोकने का उपाय खोज निकाला। उसने वसुदेव को जुआ खेलने के लिए तैयार कर लिया। वसुदेव जुए में हार गये तो उसने यह वचन ले लिया कि देवकी के उदर से जो भी सन्तान होगी, उसका स्वामी मैं होऊँगा।

वसुदेव ने कंस की बात स्वीकार कर ली। वह वचनबद्ध हो गये। जब यह बात देवकी को विदित हुई तो उसे अत्यन्त दुःख हुआ। कंस की इस मांग के मर्म को वह पूरी तरह समझ गई, मगर लाचार थी। वह पति के वचन को टालने में असमर्थ थी।

वह उसी समय राजसभा में पहुँचा। उसने आदेश दिया कि राजज्योतिषियों को शीघ्र बुला कर लाया जाय। तत्काल आदेश का पालन किया गया और ज्योतिर्वेत्ता विद्वान् सभा में उपस्थित हुए। राजा ने यथायोग्य सत्कार-सन्मान करके उनसे प्रश्न किया—भविष्यवेत्ताओं! आप लोग ज्योतिषशास्त्र का भली-भांति मनन एवं पर्यालोचन करके बतलाइए कि संसार में मुझे मारने वाला कौन है? किस के हाथ से मेरी मृत्यु होगी?

ज्योतिषी विद्वानों के समक्ष आज बड़ा अटपटा प्रश्न था। उत्तर न देने में भी कुशल न थी और उत्तर देना भी वांछनीय नहीं था। मगर राजकीय आदेश की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी। विवश होकर उन्होंने लग्न-प्रश्न लिया और कुण्डली बनाई और फिर फलादेश करना आरम्भ किया। जब उन्हें अच्छे ग्रह नजर न आए तो चुप हो रहे।

कंस ने चुप्पी साधे देख कर पण्डितों से कहा—आप लोग फलादेश करने में संकोच न कीजिए। मैं आपको अभय देता हूं। जो हो, स्पष्ट कह दीजिए।

तब पण्डितों ने कहा—महाराज, वसुदेव राजा की महारानी देवकी आठ पुत्रों को जन्म देंगी। उनमें से सातवां पुत्र गिरिधारी होगा। वह मल्लों को पछाड़ेगा, पूतना के जीवन का अन्त करेगा, अर्जुन वृक्ष को उखाड़ेगा, नाग को नाथेगा, सत्यभामा के साथ विवाह करेगा, आपके श्वशुर का वध करेगा और वही आपके जीवन का भी अन्त करेगा। इस प्रकार आपको वध करने वाला आपके ही घर में जन्मेगा।

ज्योतिषियों की भविष्यवाणी सुन कर कंस विचार-सागर में डूब गया। वह सोचने लगा–अयवन्ता मुनि की वाणी से इन ज्योतिषियों की वाणी बराबर मिलती है। मुझे पानी आने से पहले ही पाल बांध लेना चाहिए। मुझे मूल ही उखाड़ फैंकना चाहिए। क्योंकि बांस नहीं होगा तो बांसुरी कैसे बजेगी? कहा है–

टेट फरी भर जोबन में,
गुरुदेव से हेत रु प्रीति न बांधी।
भामिनी-भोग में राच रही,
तेने लोगों के पेट में रावड़ी रांधी।
काल का कागद आन खड़ा,
जैसे मेह गाजी रु गरी नहिं आंधी।
अब क्यों सोच करे नर मूरख!
पानी पहले तू ने पाल न बांधी॥

जब कंस को मालूम हो गया कि इस निमित्त से मेरी मृत्यु होने वाली है, तो उसने उसे रोकने का उपाय खोज निकाला। उसने वसुदेव को जुआ खेलने के लिए तैयार कर लिया। वसुदेव जुए में हार गये तो उसने यह वचन ले लिया कि देवकी के उदर से जो भी सन्तान होगी, उसका स्वामी मैं होऊँगा।

वसुदेव ने कंस की बात स्वीकार कर ली। वह वचनबद्ध हो गये। जब यह बात देवकी को विदित हुई तो उसे अत्यन्त दुःख हुआ। कंस की इस मांग के मर्म को वह पूरी तरह समझ गई, मगर लाचार थी। वह पति के वचन को टालने में असमर्थ थी।

अवसर पाकर कंस ने वसुदेव और देवकी को कारागार में डाल दिया। देवकी ने छह सन्तानों को जन्म दिया, मगर वे सब मुर्दा रूप में ही नजर आई, क्यों कि देवता ने उनका हेरफेर कर दिया था। जब मरी हुई लड़की समय-समय पर कंस के सामने लाई गई तो देख कर कंस फूला नहीं समाया। वह बोला-देखो, यह तो मेरी धाक से चल बसीं। क्या यह मरी हुई लड़-कियां ही मुझे मारेंगी।

सातवीं बार प्रसव का समय आया तो कंस को विशेष चिन्ता हुई। वह बड़ा ही सावधान और चौकन्ना रहने लगा। वह सोचा करता—अब की बार मेरा काल जन्म लेने वाला है। मगर मैं अपने काल का ही काल बन जाऊंगा।

इस बार कंस ने कारागार के चारों ओर विशेष रूप से सख्त पहरे का प्रबन्ध कर दिया और पहरेदार सिपाहियों को हिदायत कर दी कि वे पल भर भी गाफिल न हों। निरन्तर सतर्क रहें और तनिक भी गड़बड़ न होने दें। जरा भी रोने की ध्वनि सुनाई दे कि फौरन मुझे सूचना दे।

भाइयो ! कोई कितना ही उपाय क्यों न करे, किन्तु जो प्राणी पुण्य की प्रबल पूञ्जी गांठ में बांध कर लाया है, उसका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। पुण्य ही मनुष्य का सब से बड़ा रक्षक है। पुण्य की प्रबलता होने पर सर्प भी पुष्पमाला बन जाता है, विष भी अमृत का कार्य करता है और आग भी फूल बन जाती है। इसके विपरीत, जब पुण्य क्षीण होता है तो मनुष्य लाख उपाय करके भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता। इसी कारण

ज्ञानी जनों का कथन है कि-संसार के लोगों ! पाप से बचो और पुण्य का संचय करो। पुण्य के उदय से इस लोक में भी सुख की प्राप्ति होती है और आध्यात्मिक कल्याण के लिए भी अनुकूल सामग्री उपलब्ध होती है, जिसके फलस्वरूप सुखे सुखे मुक्ति भी प्राप्त की जा सकती है।

आखिर भाद्रपद वदि अष्टमी को, जब कि रोहिणी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग था, महारानी देवकी के गर्भ से सातवें पुत्र कृष्ण का जन्म हुआ। कहा है–

देवकी को नन्दन है नीको,
हुओ जादव-कुल में टीको।
भादवा वदी दिन अष्टमी को,
जन्म जब हुओ हरिजी को॥
तिण अवसर वसुदेवजी, मन का सोच मिटाय।
कोमल कर में ले कान्ह को, जावे गोकुल मांय॥
तुरत फुरत से हुआ त्यारी॥१॥
पुरुषोत्तम प्रकट्या अवतारी।
जगत में महिमा विस्तारी॥ टेक॥

कृष्णजी का जन्म होते ही उनके प्रबलतर पुण्यप्रभाव से देवकी के हाथों की हथकड़ियां और पैरों की बेड़ियां तड़ाक से टूट गई। फिर वसुदेवजी ने नाल छेदन किया।

तत्पश्चात् देवकी ने वसुदेव से कहा-इस नवजात शिशु को आप इसी समय गोकुल के नन्द अहीर की रानी यशोदा के पास पहुँचा दीजिए।

गोकुल में भेजने के लिए कहने का 'कारण यह था कि देवकी के विवाह के समय गोकुल उन्हें दहेज में दिया गया था। इसके अतिरिक्त देवकी ने यशोदा से बातचीत कर रक्खी थी।

हां तो देवकी का कथन सुनकर वसुदेव ने कहा-मैं ले जाने को तो तैयार हूँ, किन्तु इस कठिन कारागार से निकलना कैसे संभव हो सकता है। ताले जड़े हुए हैं।

देवकी ने कहा—आप इसकी चिन्ता न करें। सभी कुछ ठीक हो जाएगा। जिसके जन्म लेते ही हथकड़ियां और बेड़ियां तड़ाक से टूट गईं, उसका प्रबल पुण्य आगे भी रास्ता बना लेगा। अतएव आप शंका त्याग कर निर्भय हो कर जाइए। आपका मंगल होगा।

कवि ने इस प्रसंग पर कहा है—

भवन से आया उतर हेटा,
द्वार के ताला जड्या सेंटा।
कंस का पहरा बाहर बैठा,
निकल जाने को नहीं रस्ता॥
चरण अंगुष्ठ लगावियो, गोविन्द को तिण वार।
खड़खड़ ताल्या टूट पड्या; कोई सड़सड़ खुल्यां द्वार॥
अखण्डित निकल गये बाहरी ॥२॥

वसुदेवजी नवजात शिशु को हाथों में लेकर ऊपर से नीचे आए। देखा, दरवाजे बंद हैं। ताले लटक रहे हैं। किन्तु जो होनहार है, अनायास ही उसकी सामग्री मिल जाती है और वह काम होकर ही रहता है। तो ज्यों ही बालक के पैर का

किवाड़ से स्पर्श हुआ, ताला अपने आप खुल गया और दरवाजे भी खुल गए। यह अद्भुत विस्मयजनक घटना देखकर वसुदेवजी को भी पूरा विश्वास होगया कि बेटा है बड़ा पुण्यवान्! इसी के पुण्य से सारी कठिनाईयां अनायास ही हल होती जा रही हैं। जब वसुदेव बाहर निकले और सतर्क दृष्टि से पहरेदारों की आहट लेने लगे तो उन्होंने देखा कि सारे पहरेदार गाढ़ी निद्रा में मग्न हैं, जैसे बेहोश पड़े हों। उन्हें बाहर निकल जाने का बड़ा अच्छा अवसर मिला और उस अवसर का लाभ उठाकर वे गोकुल की ओर रवाना हो गए। फिर—

अंधेरी रात घटा छाई,
जोर से गाजे गगन माई।
चमकती बिजलया दर्शाई,
बायरो बाजे जोश खाई।
अति उमंग आकाश से, पड़ रही जल की धार।
सहस्र नाग छाया कर दीनी, पड़े न बूंद लगार॥
जिन्हों का पुण्य बड़ा भारी॥ ३॥

वसुदेवजी बाहर निकले तो कृष्णपक्ष की अंधेरी रात थी, आकाश में सघन घनघटाएँ छाई हुई थीं। इस कारण अंधकार की गहनता कई गुनी बढ़ गई थी। नेत्र बेकार हो रहे थे। हां, बीच-बीच में बिजली अवश्य चमक उठती थी, किन्तु उसका क्षणिक आलोक उस वातावरण को अधिक भयावह ही बनाता था। मगर वसुदेवजी बिना किसी आशंका और सङ्कल्प-विकल्प के, गोकुल की ओर आगे ही आगे बढ़ते चले जा रहे थे। इतने में मूसलधार वर्षा होने लगी। किन्तु सहस्रनाग देवता ने अपना

फण फैला दिया, जिससे एक बूंद भी उनके शरीर को स्पर्श न कर सकी।

आगे चले तो देखा-यमुना बडे वेग के साथ बह रही है। अब तक की सारी कठिनाइयां सहज ही दूर होती गई थीं, किन्तु यमुना को पार करना साधारण बात नहीं थी। इसमें दोनों के प्राणों को संकट था। अतएव वसुदेवजी ने सोचा-नदी का उतार आ जाएगा तो पार करके चला जाऊँगा।

निकल मथुरा से गोकल धावे,
अपट जमुनाजो पूर जावे।
निकलवा मारग नहीं पावे,
विविध मिसलत मन में ठावे।
पग फरस्यो गउपाल को, जमुना हुई दो भाग।
वसुदेवजी तुरत निकल गये, हुलस्यो हियो अथाग॥
गोकुल में पहुंचे गिरिधारी॥ ४॥

किन्तु बाद में वसुदेवजी ने विचार किया—जिसके प्रभाव से ताले टूट गये, सिपाही सो गए और वर्षा से भी रक्षा हो गई, उसके प्रभाव से नदी को पार करना कौन बड़ी बात है? यह सोचकर वसुदेवजी ने यमुना में प्रवेश किया। वे धीरे-धीरे पग बढ़ाते आगे चले और जब कमर तक पानी आया तो घबराए कि आगे क्या होगा। किन्तु ज्यों ही पानी का कृष्ण के अंगूठे से स्पर्श हुआ कि पानी फट गया और बीच में दो धाराएँ हो गईं।

मथुरा मे सुखसंचारक नामक कम्पनी है। उसने एक प्याला बनाया है जो 'कृष्णजी का प्याला' कहलाता है। उसमे

पानी भर दिया जाता है और ज्यों ही वह कृष्ण के अंगूठे पर लगता है, त्यों ही एकदम खाली हो जाता है। इससे पहले खाली नहीं होता।

हां, तो वसुदेवजी कृष्ण को लेकर सही सलामत रातों-रात गोकुल में पहुँच गये। वहां पहुँच कर नन्द के द्वार पर खड़े होकर आवाज दी वह दरवाजा खोल कर बाहर निकले। तब वसुदेवजी ने सारा हाल कह सुनाया और अन्त में कहा-तुम्हारे यहां जो बच्चा उत्पन्न हुआ हो, उसे मुझे दे दो और इसे यशोदा के पास सुला दो।

यशोदा ने लड़की का प्रसव किया था, अतएव लड़की लाकर वसुदेव को सौंप दी और कृष्ण को यशोदा के पास सुला दिया। वे उस लड़की को लेकर और यमुना को पार करके पुनः अपनी जगह जा पहुँचे। लड़की को देवकी के पास सुला दिया।

इतना बड़ा काण्ड होने तक किसी की निद्रा भंग नहीं हुई। किन्तु वसुदेव के कारागार में प्रवेश करते ही दरवाजे अपने आप बंद हो गए, ताले ज्यों के त्यों लग गए और पहरेदार जाग कर सावधानी के साथ पहरा देने लगे। नवागता लड़की ने रोना शुरु कर दिया। उसी समय झालला बजाया गया तो पहरेदारों ने समझ लिया कि देवकीजी ने कन्या को जन्म दिया है। उन्होंने उसी समय कंस को सूचना दे दी। सूचना पाते ही कंस तलवार लेकर आया। उसने देखा-अरे, यह तो लड़की है। और कंस का अभिमान सातवें आसमान पर जा पहुंचा। मूंछों पर ताव देते हुए उसने कहा—मेरे डर से लड़के के बदले लड़की पैदा हो गई कहां हैं अयवन्ता मुनि और भविष्यभाषी ज्योतिषी! आकर देख

लें वे, किस प्रकार उनकी भविष्यवाणी मिथ्या सिद्ध हो रही है। मगर कंस का संशय दूर नहीं हुआ, अतएव उसने उस लड़की को लेकर बड़े जोर से पत्थर पर पछाड़ दिया। वैष्णव परम्परा का कथन है कि पछाड़ने से पूर्व ही लड़की उसके हाथ से छूट गई और बिजली के रूप में परिणत हो गई। जैन परम्परा के हरिवंशपुराण में बतलाया गया है कि लड़की को पछाड़ा तो नहीं था, मगर उसके नाक-कान काट लिये थे। तो फिर—

यशोदा के हाथ जाय दीनो,
प्रेम से गिरिधर को लीनो।
नन्दजी महोत्सव खूब कीनो,
दान बहु याचक ने दीनो॥
आये मथुरा में निज घरे, वसुदेवजी चाल।
दिन-दिन बीज-कला ज्यों बढ़ता, आनंद में नंदलाल॥
कोई नहीं जाने नर-नारी ॥४॥

गोकुल में यही प्रकट किया गया कि नन्द के घर पुत्र का जन्म हुआ है। नन्द ने और गोकुलवासियों ने अत्यन्त हर्ष और उत्साह के साथ पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। इस जन्मोत्सव की खुशी की सूचना मथुरा में भी पहुँच गई। अब कंस ने अपना संकट टला समझ कर वसुदेव और देवकी को बन्धनमुक्त कर दिया। वे आनन्दपूर्वक रहने लगे। देवकी कभी कभी कोई बहाना करके कृष्ण को देखने चली जाती थी और देख कर तथा लाड़-प्यार करके ही अपना मन सन्तुष्ट कर लेती थी।

इस प्रकार शनैः शनैः कृष्णजी बड़े हुए। छोटी उम्र में भी उन्होंने बहुत सी अद्भुत और आश्चर्यजनक लीलाएँ कीं।

उन्होंने वहां अनेक साथी बना लिए और उनके साथ काल व्यतीत करते हुए आनन्दपूर्वक रहने लगे। आठ वर्ष की उम्र में ही उन्होंने अपना रंग जमा लिया। जब गोकुल की अहीरानियां दूध-दही की मटकियां लेकर बेचने के लिए मथुरा जातीं तो कृष्ण और उनके संगी साथी मार्ग में मिल जाते और कहते—जरा हमें भी तो चखाती जाओ। देखें, कैसा है तुम्हारा दूध-दही। और वे उन्हें बालक जानकर दही, दूध और मक्खन दे दिया करती थीं। बालकों का हृदय निष्पाप, निर्विकार और निश्छल होता है, अतएव वे सब को प्रिय लगते हैं। फिर कृष्ण की तो बात ही क्या कहना है। वे पूर्वजन्म में जगत्-वल्लभ होने का नियाणा करके आये थे। वे किसे प्रिय न लगते ? फिर—

कृष्ण दिन्न दिन्न यथा मोटा,
हाथ में दण्ड लिया छोटा।
ग्वाल-संग रमे दड़ी दोटा,
शत्रु के हुआ जेम सोटा॥
सोल वर्ष गोकुल विषे, लीला करी अनेक।
तीन खंड का नाथ हुआ तू, पूरब पुण्य तो देख॥
जगतवल्लभ कहे नर-नारी ॥६॥
दलाल्या धर्मतणी कीनी,
शास्त्र में साख देख लीनी।
सज्जन पर सुदृष्टि कीनी,
भलायां जग में बहु लीनी।
महामुनि नंदलालजी, तस्य शिष्य कहे एम।
पुण्य प्रताप वांछित फल पावे, रक्खो धर्म का नेम॥
खांदलागढ़ जोड़ करी त्यारी ॥७॥

किन्तु जब कृष्ण और उनके सखा गोपियों को ज्यादा तंग करने लगे तो उन सब की आंखों में खटकने लगे। एक दिन वे कहने लगीं—कान्हा! तुम्हारी जबर्दस्ती हमे अच्छी नहीं लगती। हां, एक-दो दिन की बात न्यारी, किन्तु तुमने तो तीसों दिन का यह धंधा बना लिया है। तुम टैक्स के रूप में जबर्दस्ती हम से दूध दही और मक्खन वसूल करते हो। दूसरी चीजों पर सरकारी टैक्स लगता है, मगर दूध-दही पर नहीं। तुमने यह नया गैर-सरकारी टैक्स कब से लगा रक्खा है।

तब मधुर मुस्कान के साथ कृष्ण बोले—पहले यह टैक्स नहीं था, अभी-अभी लगा है और अब देना शुरु कर दिया है तो देना ही पड़ेगा।

अनेक देशों की गूजरियां वहां मौजूद थीं। उन्होंने अपनी अपनी भाषा में उत्तर दिया। सब से पहले मेवाड़ देश की गूजरी ने कहा—

नन्दजी के लाल, थांरो नाम गऊपाल,
तू तो गउआं चरावे, बैठो रहे छाया झाड़ की।
दौड्यो दौड्यो आवे नेड़े, म्हांके क्यों लाग्यो है केड़े,
गरीबां ने छेड़े थारी, फूटी छिया नाड़ की॥
इच्छा व्हे तो मान कान दूध न दही को दान,
द्यांगा थाने आवे जद मौसम असाड़ की।
'खूबचन्द' कहे कान्हो देखत ही रह गयो,
सभाव देई ने गई, गूजरी मेवाड़ की॥

फर ढूँढार देश की गूजरी बोली—

गायां को गुवाल कान, मांगे छे मही को दान,
कोडाइ से आयो काना, कोडे चाल्यो जाय छे।
देखी थारी वास की सी, भुगरी गुगरा लटकाय लाला,
तू तो चरावे फेरड़ो ने गाय छे॥
सुधो सुधो चाल्यो जाजे केसुं बाबा नंदजी ने,
लोगां को मही तू काना ठग ठग खाय छे।
मैं तो छां दुंढाड़ा लोग, टक्को लेस्यां पेली रोक,
छज्जुमल कहे गूजरी जाय देइ जाय छे॥

तत्पश्चात् गुजरात की गुजरी ने कहा—

जसोदाना छोकरा तमे हमणां केम चल्यो आव तु रे,
कौड़ी पैसो खरचे तू नाही, दूध दही लूटीने खाव तु रे।
गुजरातनी अमे गूजरी गरीबा ने केम सताव्रतु रे,
ए करमो ति कानजी त्हारो भलुं कवे नहीं थाव तु रे॥

कभी-कभी गूजरियां कृष्ण की माता से कहतीं—

दीसतो वरण श्याम जेनो छे कन्हैयो नाम,
अकल न एति कुण आपणो परायो छे।
झूठो करो दूध दही, वरजां तो माने नहीं,
जमना के तीर धूमधाम ही मचायो छे।
कांकरी गिलोल मारे, गागरिया फोड़ डारे,
फाड्यो चीर चीर क्यों इतनो इतरायो छे।
आज सुं वरज दीजे, झूठो हो तो पूछ लीजे,
जग बीच देख एक ये ही नंद जायो छे॥

इस प्रकार विभिन्न देशों की रहने वाली गूजरियां अपनी-अपनी भाषा में कह कर और किसी प्रकार पिण्ड छुड़ा कर भाग जातीं। तब कृष्ण कहते—आज तो भले ही भाग जाओ, किन्तु कल नहीं छोड़ूंगा।

और जब यह धमकीभरे शब्द उन्होंने सुने तो सबने विचार किया - इस प्रकार भागने से तो काम चलने वाला नहीं। कोई स्थायी उपाय करना चाहिए। अगर हम सब मिल कर राजा कंस के पास चलें और फरियाद करें तो सदा के लिए जान बच सकती है।

आवो ए सब राय मेलो, गऊपालो यूं नहीं समझेलो ॥टेर॥
गोकुल की गूजरियां, आपस में कर रही हेलमहेलो।
इण रस्ते से लाभ धरयो छे, क्यों ना संभाले बीजो गेलो ॥१॥
यो कान्हो नानो मतवालो, कूड़ कपट का थे लो।
दूध दही की फोड़े ज्ञावण्या, कर देवे रेलमठेलो ॥२॥
यों डरियां तो काम न चाले, दुनिया भर्म धरेलो।
कूट पीट ने करद्यो सीधो, यो पण याद करेलो ॥३॥
कुण जायो कहो मात यशोदा, ऐसो नंद जणे लो।
कंस राय ने अर्ज करां तो क्यों नहीं न्याय करे लो ॥४॥
जो पुण्य पोते होय जणी का, दुर्जन कांई करे लो।
मुनि नन्दलाल तणा शिष्य कहे छे सब ही सुलटी पड़ेलो ॥५॥

हां, तो गोकुल की गूजरियां सोचती हैं—इस प्रकार भाग-भाग कर कब तक बचेंगी? आज मेरी तो कल तेरी बारी आ जाएगी। इस तरह सोच कर उन्होंने कौंसिल की और विचार

किया कि टैक्स देना है या नहीं ? इसके अतिरिक्त यह कान्हा प्रतिदिन छेड़खानी करता है, मटकियां भी फोड़ देता है। ऐसी हरकतों को देख कर दुनिया क्या कहेगी ? भले ही उसकी भावना में पाप नहीं हो, मगर व्यवहार में यह अच्छी बात नहीं है। कभी न कभी दुनिया कलंक लगा देगी। तो फिर क्या करना चाहिए ? हम ऐसी अबलाएँ तो नहीं कि आप ही अपनी रक्षा न कर सकें। सब मिल कर उसकी अक्ल ठिकाने ला दें ?

मगर फिर सोचा—इन वदरों से जीतना सरल बात नहीं है। अच्छा यही होगा कि हम सब मथुरा के राजा कंस के सामने इसकी फरियाद कर दें। फिर सोचा—मगर कंस बड़ा अत्याचारी है। न मालूम क्या फैसला करे। कहीं ऐसा न हो कि कृष्ण को कोई सख्त दंड दे डाले।

कृष्ण का अत्याचार भी गोपियों को भीतर से सुहावना लगता था। वे नहीं चाहती थीं कि कृष्ण को दंड का भागी होना पड़े। उनका अनिष्ट होने की संभावना भी गोपियों को सह्य नहीं थी। अतएव वे सब अपने विचार को अधूरा रख कर और कोई निर्णय किये बिना ही चली गईं। गोकुल में कृष्ण की बाललीला यथापूर्व चालू रही।

किसी समय कृष्ण अपने साथियों के साथ यमुना के किनारे गेंद खेल रहे थे। संयोगवश गेंद किसी साथी के हाथ से कालीदह में जा गिरी। कोई साथी उसे निकालने का साहस नहीं कर सका। तब कृष्णजी बोले—अच्छा, मैं ले आता हूँ। यह कह कर वे कालीदह में कूद पड़ने को उद्यत हुए। यह देख उनके साथी भय के कारण सिहर उठे। कहने लगे—गेंद गई सो गई।

उसके लिए प्राणों को संकट में मत डालो। गेंद से प्राण अधिक मूल्यवान् हैं। कालीदह में नाग-नागिन का जोड़ा रहता है। मगर साहस की साक्षात् प्रतिमा कृष्ण कब परवाह करने वाले थे! वे अपने साथियों के देखते-देखते कालीदह में कूद पड़े। नीचे गये तो नागिन मिली। कृष्णजी ने उससे कहा-तूने मेरी गेंद चुराई है। मुझे वापिस लौटा दे। नागिन ने गेंद देने से इंकार किया और कहा—मेरे पति नाग सो रहे हैं। तुम जल्दी भागो। वे जाग उठेंगे तो प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।

जब कृष्ण किसी प्रकार नहीं माने तो नागिन ने अपने पति को जगाया। उसने उठते ही जोर की फुंकार की। नाग ने अपनी वैक्रियशक्ति से हजार मुँह बना लिये। मगर कृष्ण वासुदेव थे। उनकी शक्ति भी कम नहीं थी। जब नाग ने हजार मुँह बनाये तो कृष्णजी ने भी हजार हाथ बना लिये और अन्त में उसे नाथ दिया। अपनी गेंद लेकर वह बाहर आ पहुँचे।

नाग को नाथना साधारण काम नहीं था। उसके लिए असाधारण और अनुपम साहस और पौरुष की आवश्यकता थी। कृष्ण के इस साहस की दूर दूर तक प्रसिद्धि हुई। कंस के कानों तक तो यह समाचार पहुँचना ही था। एक महान् साहसिक व्यक्तित्व का उदय होते देख उसे अपना भविष्य धूमिल दिखाई देने लगा। उसने कृष्ण के वध के लिए पूतना राक्षसी को भेजा। वह अपने स्तनों में जहर लगा कर आई और बहाना बना कर दूध पिलाने लगी। मगर कृष्णजी कोई कच्चे-पक्के नहीं थे। वे उसके दुष्ट अभिप्राय को समझ गये। उन्होंने इतने जोर से स्तन खींचे कि वह बुरी तरह चिल्लाई और मर गई। इसके बाद तो

इसी प्रकार की और भी अनेक घटनाएँ घटित हुई। अगर पुण्य-शाली महापुरुष कृष्ण हर बार विजयी हुए और उनका बाल भी बांका न हो सका। उन्होंने दैत्याकार मल्लों को पछाड़ा और अर्जुन वृक्ष को भी समूल उखाड़ दिया। सोलह वर्ष की कुमार अवस्था में ही उन्होंने यह सब चमत्कार दिखला दिये। इन विशिष्ट घट-नाओं से कंस को विश्वास हो गया कि यही मुझे मारने वाला है। मगर कंस की उनके सामने एक न चली।

एक बार सत्यभामा का स्वयंवर मथुरा में हो रहा था। कृष्ण और बलराम भी उसमें सम्मिलित होने गये और ऐसी जगह खड़े हुए कि ज्यों ही सत्यभामा आई और उन्हें खड़ा देखा कि फौरन कृष्ण के गले मे वरमाला डाल दी। वे उसे रथ में बिठलाकर नौ दो ग्यारह हो गये। स्वयंवर में आए हुए दूसरे राजा लोग देखते ही रह गये।

महाराज उग्रसेन को पींजरे से निकालने वाले यही थे। कंस का वध करके और अयवन्ता मुनि तथा ज्योतिषियों की भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध करके उग्रसेन को राजगद्दी पर आसीन करने वाले भी यही थे।

यह तो कृष्णजी के प्रारम्भिक जीवन की थोड़ी सी और संक्षिप्त घटनाएँ हैं। उनका जीवन भारतीय इतिहास में अनूठा है। वे अपने युग के अद्वितीय नेता थे। महान् प्रतापशाली, कुशल राजनीतिज्ञ, शूरवीर, धर्मनिष्ठ और कर्मयोगी थे। भारत आज भी उनके नाम पर गौरव का अनुभव करता है।

कृष्णजी ने अपनी माता की इच्छा की पूर्त्ति के लि
तेला किया और देवकी महारानी को गजसुकुमाल के रूप
आठवें पुत्र की प्राप्ति हुई। इन्हीं गजसुकुमाल का जीवन आप
सुना है। गजसुकुमाल अपने यौवन के प्रभात में ही संसार
विरक्त हो कर भगवान् अरिष्टनेमि के अन्तेवासी बने और शी
ही मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ हुए।

भाइयों! महापुरुषों की जीवनियां आपके समक्ष प्रस्तु
की जा रही हैं। इस उद्देश्य से नहीं कि आपका मनोरंजन कि
जाय। इन्हें प्रस्तुत करने का अभिप्राय यह है कि आप उन
प्रेरणा ग्रहण करें। वे जिस पथ पर चले, उस पर आप भी चलें
आपको यह तो विदित ही है कि जैनधर्म प्रत्येक आत्मा
समान गुणों एवं समान शक्तियों का स्वामी स्वीकार करता है
सिद्ध भगवन्तों में, तीर्थङ्करों में तथा अन्य महापुरुषों की आत्म
में जो शक्तियां विद्यमान थीं और हैं, वही सब आपकी आत्मा
भी मौजूद हैं। आपकी आत्मा का मूल स्वरूप सिद्धों के समा
है। आप अनन्त ज्ञान, दर्शन और बल के धनी हैं। अतए
यह समझने का कोई कारण नहीं है कि वे महापुरुष जैसी ऊँच
करणी कर सके, हम वैसी नहीं कर सकते। आप भी वैसी
करणी कर सकते हैं। आवश्यकता है सिर्फ आत्मा में जागृ
उत्पन्न करने की। अतएव आप अपनी सोई हुई आत्मा को
जगाइए और अपने वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्
कीजिए। इन महापुरुषों के पावन चरितों को अपने समक्ष र
कर पुरुषार्थ कीजिए।

पर्युषण पर्व का यह महान् अवसर आपको पुण्ययोग से प्राप्त हुआ है। जीवन की क्षणभंगुरता को देखते हुए कौन दावा कर सकता है कि उसे पुनः ऐसा अवसर प्राप्त होगा ही। अतएव भविष्य का भरोसा त्याग कर वर्त्तमान से अधिक से अधिक लाभ उठाने का यत्न कीजिए। शुद्ध अन्तःकरण और निश्चल श्रद्धा रख कर कर्मों को काटने के लिए धर्म की आराधना कीजिए। जो धर्म की आराधना करेंगे, वे दोनों लोकों में सुखी होंगे।

१-६-५६
बैंगलोर केन्टोमेन्ट

चरम-समभाव

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्ध देहा-
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥

卐卐

श्रीमान् तुङ्गाचार्य ने लोह बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए भगवान् ऋषभदेवजी के स्तोत्र का निर्माण किया। यह स्तोत्र अत्यन्त मनोहर, भावपूर्ण, प्रभावपूर्ण, प्रसाद गुण से सम्पन्न और कल्याणकारी है। उसके पैंतालीसवें श्लोक में आचार्य महाराज फर्माते हैं—

भगवन्! यदि किसी व्यक्ति के पेट में भयानक जलोदर की बीमारी हो गई हो-पेट में पानी भर गया हो या दूसरे कोई भी रोग उत्पन्न हो गये हों और इस कारण उसके शरीर में कूबड़ निकल गई हो, जैसी कि ऊँट की पीठ में निकली हुई होती है, और इस बीमारी के कारण शोचनीय दशा उत्पन्न हो गई हो

और उसे विश्वास हो गया हो कि इस असाध्य बीमारी से मैं हर्गिज अच्छा नहीं हो सकता और मेरी इहलीला समाप्त हो जायगी, किन्तु ऐसी अतिशय विकट परिस्थिति में भी यदि वह आपके नाम का सच्चे हृदय से स्मरण करता है और आपके चरण-कमल की रज को अपने शरीर पर लगा लेता है, तो वह रज भी उस बीमार के लिए रामबाण का काम करती है। उसका सम्पूर्ण शरीर कामदेव के समान सुन्दर बन जाता है।

भगवान् के नाम में ऐसी अनूठी शक्ति है। भगवन्नाम के स्मरण से राजरोग भी उपशान्त हो जाता है। उसके लिए वह पावन नाम अमृत का काम करता है और रोग को समूल नष्ट कर देता है। श्रीपाल राजा को ७०० कुष्ठरोगियों के साथ रहने के कारण कुष्ठ रोग हो गया था। मैनासुन्दरी के साथ उसका विवाह हुआ। मैनासुन्दरी के पिता ने आवेश में आकर कुष्ठी श्रीपाल के साथ व्याह दिया था। किन्तु मैना जैनधर्म के मर्म को जानती थी और अपने भाग्य पर विश्वास करने वाली थी। अतएव कोढ़ी पति के मिलने पर भी उसे दुःख का अनुभव नहीं हुआ। यही नहीं, वह श्रीपाल के साथ रह कर आनन्द मानने लगी और अपने पति को ही सर्वस्व समझ कर उसकी सेवा में निरत हो गई।

लोग समझते हैं कि सुख बाह्य मनोज्ञ पदार्थों में है या अनुकूल परिस्थितियों से उत्पन्न होता है। मगर ऐसा समझना अज्ञान का परिणाम है। जड़ पदार्थों में सुख की सत्ता नहीं है। सुख आत्मा का धर्म-गुण है और आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं रह सकता। जिसने अपने चित्त को नियन्त्रित कर लिया है,

वशीभूत बना लिया है, वह किसी परिस्थिति में आनन्दमय रह सकता है। संसार का कोई भी पदार्थ उसे दुःखी नहीं बना सकता। वस्तुतः सुख और दुःख की अनुभूति चित्त की वृत्तियों से ही होती है। मैना ने अपने चित्त को ऐसा साध लिया था कि कुष्ठी पति के सयोग मे भी वह दुःख नहीं, वरन् सुख का ही अनुभव करती थी। उसे आनन्दानुभव की वास्तविक कला प्राप्त थी, अतएव प्रत्येक परिस्थिति में उसके सामने सुख का खजाना खुला रहता था।

कुछ समय बीतने पर उसने एक महान् सन्त को देखा। उन्हें अपनी परिस्थिति बतलाई और रोगनिवारण का उपाय पूछा, संत का हृदय दयामय होता ही है। मैना की कर्त्तव्य-परायणता, पति भक्ति और धर्मनिष्ठा देखकर उनका हृदय विशेष रूप से द्रवित हो गया और उन्होंने कहा—भगवान् तीर्थंकरों का जाप करो और नौ दिन तक आयंबिल करो।

मैनासुन्दरी ने गुरु महाराज के उपदेश को शिरोधार्य किया और एक श्रावक के घर में रहकर दोनों ने विधि सहित नवपद का जाप किया। नवपद की आराधना की समाप्ति पर श्रीपाल का शरीर कंचनवर्ण का हो गया और सारी बीमारी दूर हो गई।

आज भी संसार में अनेक मनुष्य हैं जो डाक्टरों, वैद्यों और हकीमों की दवा खाकर थक जाते हैं और हजारों का चूर्ण कर डालते हैं और जब नीरोग नहीं होते तो कहते हैं—अब तो भगवान् के नाम की दुआ ही शेष रह गई है। तब वे गुरु महाराज को बुलाते हैं और कहते हैं—महाराज, मांगलिक श्रवण कराइए,

जिससे मेरी बीमारी दूर हो जाए। और ऐसे कई उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं कि जो बीमारी डाक्टरों की दवा से नहीं जाती, वह भगवान् के नाम से नष्ट हो जाती है।

सं० २००३ में मैंने जामनगर में चतुर्मास किया था। वहां हिन्दुस्तान के ख्यातनामा डाक्टर जगजीवन मेहता रहते हैं। उनके पिता नियमित रूप से व्याख्यान सुनते रहे। दीपावली के दूसरे दिन उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसों अध्ययनों का स्वाध्याय हुआ। इससे पहले वहां पाठ करने की प्रथा नहीं थी। उस स्वाध्याय में भी वे सम्मिलित हुए। किन्तु तीन घंटे की लगातार बैठक होने से यकायक उनकी तबियत खराब हो गई और ज्यादा खराब हो गई। यहां तक कि देखने वालों को लगा कि ये तो दो चार घड़ी के ही मेहमान हैं।

उस समय डाक्टर मेहता मेरे पास आए और कहने लगे—पिताजी की तबियत बहुत नाजुक है। आप पधारकर संथारा करा दीजिए। मैं वहां गया तो मुझे उनकी स्थिति देखकर लगा कि अभी स्थिति संथारे के योग्य नहीं है। मैं एक स्तोत्र सुनाकर लौट आया और कह आया कि सात दिन पर्यन्त इस कमरे से बाहर न निकलें। सात दिन में वे बिना दवा के ही स्वस्थ हो गए। तो यह भगवान के नाम की चमत्कार शक्ति का ही प्रभाव था।

जैन दिवाकर स्वा० चौथमलजी म० के जरिए अनेकों के दुःख दूर हुए। मगर उनके पास भी भगवान के नाम की शक्ति के सिवाय और क्या था? आज भी सन्त-महात्माओं के नाम

से अनेक श्रद्धालु लाभ उठा रहे हैं। तो जब सन्तों के नाम में भी अद्भुत शक्ति है तो भगवान् तीर्थंकरों के नाम में अलौकिक शक्ति क्यों न होगी? डाक्टरों, वैद्यों और हकीमों की दवा तो शारीरिक रोग को ही दूर करती है और नहीं भी करती है, किन्तु भगवान् के नाम की दवा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक-समस्त बीमारियों को नष्ट करती है और सदैव के लिए नष्ट करके अक्षय आनन्द प्रदान करती है। अतएव जो त्रिताप से छुटकारा चाहता है, उसे भगवान् का नाम सदैव हृदय में स्थापित रखना चाहिए। ऐसा करने से जन्म जरा और मृत्यु संबधी समस्त संताप दूर हो जाएँगे और अक्षय शान्ति प्राप्त होगी।

'लोगस्स' के पाठ में प्रार्थना की जाती है— आरुग्गबोहि-लाभ।' अर्थात् हे भगवन्! मुझे नीरोगता प्रदान कीजिए। क्योंकि भगवान् की आत्मा समस्त द्रव्य और भाव रोगों से मुक्त हो चुकी है, वे परम स्वास्थ्य को प्राप्त कर चुके हैं, इस कारण उन्हीं से इस प्रकार की प्रार्थना की जा सकती है। जिसके पास जो वस्तु नहीं है, वह दूसरों को किस प्रकार दे सकता है?

याचना करने में भी विवेक की आवश्यकता है। किस से किस वस्तु की याचना की जाय यह बात समझने योग्य है। किसी महाराज के समक्ष पहुंच कर जो मनुष्य घास फूस की याचना करता है, वह बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता। भगवान् जिनेन्द्र देव तीन जगत् के नाथ हैं। उनसे महान् लोकोत्तर वस्तु की याचना करना ही उचित है। किन्तु लोभी, स्वार्थी और विवेक-विहीन जन इस तथ्य को नहीं समझते और कोई मुकदमे में जीतने की, कोई विवाह हो जाने की, कोई पुत्रप्राप्ति की तो कोई

ऐसी ही किसी अन्य चीज की याचना करते हैं। इस प्रकार की क्षुद्र लौकिक याचनाएँ करना बुद्धिमत्ता नहीं है। जिससे अक्षय अनन्त और अखण्ड आनन्द की प्राप्ति हो सकती है, उससे क्षुद्र सांसारिक वस्तु मांगना अपने दुर्भाग्य को ही कायम रखने का प्रयास करना है।

फिर लौकिक वस्तुओं की याचना करने के पश्चात् कहा जाता है—'प्रभो! यदि मेरा यह मनोरथ पूरा हो जाएगा तो तुम्हारे छत्र चढ़ा दूंगा, मन भर प्रसाद चढ़ाऊँगा या और और कुछ भेंट समर्पित कर दूंगा।' इस प्रकार भगवान् को रिश्वत देने का प्रयत्न किया जाता है, प्रलोभन दिया जाता है। मानो भगवान् कोई मजदूर हैं जिन्हें काम हो जाने पर मजदूरी देने का वायदा किया जाता है। यह मनुष्य की हीन मनोदशा का परिचायक है। वीतराग भगवान् की स्तुति, भक्ति और आराधना निष्कामभाव से करनी चाहिए। जो क्रिया की जाएगी और अन्तकरण में जैसी भावना होगी, उसके अनुरूप फल की प्राप्ति तो स्वतः हो ही जाएगी। फिर कामना के मैल से अपनी आत्मा को मलीन बनाने से क्या लाभ है? भगवान् से सांसारिक वस्तु मांगने का अर्थ यह है कि अभी तक आपके अन्तःकरण में शुद्ध आत्मिक भावना उत्पन्न नहीं हुई है। आपने आत्मस्वरूप को नहीं पहचाना है। संसार के भौतिक पदार्थ, जो वास्तव में अकल्याणकारी हैं, आपको कल्याणकारी प्रतीत हो रहे हैं। आपका विवेक अभी तक जागृत नहीं हुआ है। भाइयों! याचना करना है तो जिनेन्द्र देव से यही याचना करो कि—प्रभो! मैं अपने राग-द्वेषादि विकारों को जीतने की शक्ति प्राप्त कर सकूँ। मोह-ममता को मार कर वीतरागता की लोकोत्तर विभूति प्राप्त करूँ। मुझे उस सम्यग्दृष्टि

की प्राप्ति हो, जिसके प्राप्त होने पर तीनों लोकों का साम्राज्य भी तुच्छ हो जाता है और मनुष्य अक्षय सुख की पात्रता प्राप्त कर लेता है।

तो भगवान् के नाम में अपूर्व शक्ति है। इस काव्य में यही बतलाया गया है कि भगवान् के नाम के प्रभाव से मारणान्तिक कष्ट भी अनायास ही दूर हो जाता है। द्रव्य-रोग तो इससे मिटता ही है, किन्तु अनादि काल से जो भावरोग-कर्मरोग-लगा हुआ है, वह भी नष्ट हो जाता है। ऐसे अपूर्व और अनुपम प्रभाव वाले भगवान् ऋषभदेव को सर्वप्रथम हमारा नमस्कार हो।

यही बात आपको अन्तगडसूत्र के आधार पर सुनाई जाती है। बतलाया जा चुका है कि कृष्ण वासुदेव अपनी माता को आश्वासन देकर लौटे और पौषधशाला में जा कर तेले की तपस्या करने लगे। तपस्या के प्रभाव से हरिणगमेषी देवता उपस्थित हुआ। कृष्ण ने जिस प्रयोजन से देवता का स्मरण किया था, वह बतला दिया। देवता ने कहा—आपको लघुभ्राता की प्राप्ति होगी, परन्तु वह नवयौवन में ही साधु बन जाएगा।

कृष्ण ने कहा—भले वह साधु बन जाए, किन्तु भाई होना चाहिए।

भाइयो ! आज के लोग तो अपनी सन्तान का साधु बन जाना वांछनीय नहीं समझते और क्वचित् कदाचित् कोई साधु बनने की इच्छा करता है तो उसे रोकने की भरसक कोशिश की जाती है और जिन गुरु महाराज के उपदेश से उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हुआ हो, उन्हें भी भला बुरा और बेटे को बहकाने

वाला कहा जाता है, मगर प्राचीन काल में ऐसी बात नहीं थी। वे वैराग्य की परीक्षा तो अवश्य करते थे, किन्तु जब उन्हें विश्वास हो जाता कि पुत्र का वैराग्य पक्का है तो उसे रोकने का प्रयत्न नहीं करते थे। धर्म की साधना उनकी दृष्टि में एक महान् और उच्च कर्त्तव्य था, यहां तक कि जीवन का सर्वोच्च ध्येय था। यही कारण है कि कृष्ण ने देवता से यह नहीं कहा कि मुझे ऐसा भाई चाहिए जो साधु न बने। वास्तव मे उस समय की धर्मश्रद्धा आदर्श थी।

देवता इस प्रकार आश्वासन देकर अपने स्थान पर चला गया और कृष्णजी पौषध व्रत पार करके माता देवकी के समीप गये। माता के चरणों में नमस्कार करके उन्होंने कहा—माताजी, मैंने देवता की आराधना की थी और उसने आकर वचन दिया है कि मुझे छोटे भाई की प्राप्ति होगी।

कृष्ण महाराज ने जिस काम के लिए माता से वायदा किया था, उसे पूर्ण करके दिखला दिया। कहा है—

साहु पुरुष बोले नहीं, बोले तो करे।
दांत्तण मेह आवे नहीं, आवे तो भरे॥

प्रामाणिक पुरुष किसी भावी बात के लिए निश्चय-भाषा का प्रयोग नहीं करते, कदाचित् वचन निकाल देते हैं तो अपनी कुर्बानी देकर भी उसे पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। तुलसीदास ने रामचन्द्र के विषय में यही बात कही है—

रघुकुल रीति सदा चल आई,
प्राण जाय पर वचन न जाई॥

सच्चा क्षत्रिय पुरुष मुख से जो वचन कह देता है, प्र देकर भी उसे पूर्ण करता है।

कालान्तर में देवकी गर्भवती हुई, उन्हें तीसरे मास में दोहद उत्पन्न हुआ और सवा नौ मास पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हो गया। नामकरण संस्कार के समय उसका गुणनिष्पन्न नाम 'गजसुकुमार' रक्खा गया क्योंकि नवजात बालक हाथी के तालु के समान लाल वर्ण का और अतिशय कोमल था।

पुत्र की प्राप्ति से देवकी को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। छोटे शिशु को रमाने की उनकी साध कितनी गहरी और कितनी बलवती थी, यह बात आप जान चुके हैं। इसी से देवकी के आनन्द का अनुमान किया जा सकता है। नन्हें और सुकुमार पुत्र को प्राप्त करके देवकी महारानी ने अपने सारे अरमानों की पूर्त्ति की और बड़े ही लाड़-प्यार तथा चाव से उसका सगोपन एव पालन-पोषण किया।

गजसुकुमार जब आठ वर्ष के हुए तो विद्याध्ययन के लिए कलाचार्य के पास भेज दिये गये। सभी कलाओं में कुशल होकर सोलह वर्ष की उम्र में उन्होंने नवयौवन में प्रवेश किया। कृष्ण और बलभद्र जैसे भाइयों में रहते हुए गजसुकुमार भी ससार का उत्तम से उत्तम सुख भोगने लगे।

यथा समय गजसुकुमार को विवाह के योग्य जान कर कृष्णजी ने सौ कन्याओं के साथ विवाह कर देने का विचार किया। ९९ सुन्दर और सुशील कन्याएँ एकत्र कर ली गई और उन्हें कन्याओं के अन्तःपुर में रख दिया गया। अब सिर्फ एक कन्या की ही कमी थी और कृष्णजी उसी की खोज में थे।

इन्हीं दिनों विभिन्न जनपदों में विचरण करते-करते भगवान् अरिष्टनेमि अपनी शिष्यमण्डली के साथ द्वारिका मे पधारे। नगरी के बाहर उद्यान में ठहरे। भगवान् के पदार्पण का समाचार बिजली के वेग के समान सम्पूर्ण द्वारिका में फैल गया। जनता के समूह के समूह भगवान् की उपासना के लिए रवाना हुए। कृष्णजी ने गजसुकुमार से कहा—त्रिलोकीनाथ परम प्रभु अरिष्टनेमि का शुभागमन हुआ है, चलो उपदेश सुनने चलें। गजसुकुमार वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो गये और कृष्ण महाराज के साथ हाथी के हौदे पर बैठ कर लवाजमे के साथ द्वारिका के बीचोंबीच होकर जाने लगे।

मार्ग मे सोमिल ब्राह्मण का घर था। उसकी पत्नी का नाम सोमश्री और पुत्री का नाम सोमा था। पुत्री बहुत सुन्दरी थी और युवावस्था में पैर रख चुकी थी। उसके अग प्रत्यग से यौवन की ज्योति बिखर रही थी। वह उस समय अपनी सखियों के साथ गेंद खेल रही थी। जब कृष्ण की सवारी उधर से निकली तो अचानक सोमा पर उनकी दृष्टि पड़ गई। पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि यह ब्राह्मणकुमारी है और अभी तक अविवाहित है।

कन्या कृष्ण के दिल में समा गई। उन्होंने अपने पार्श्ववर्ती आदमी से कहा—जाओ और मेरे अनुज के लिए इस कन्या की मँगनी करो। वह आदमी कृष्ण के आदेश को शिरोधार्य करके सोमिल के समीप गया और उसने महाराज श्रीकृष्ण का संदेश उसे सुनाया। सोमिल ने अत्यन्त आदर के साथ मँगनी स्वीकार की और अपने भाग्य की सराहना की। कन्या उसी समय कन्याओं के अन्तःपुर मे भेज दी गई।

कृष्णजी की सवारी आगे बढ़ी। उधर सोमिल ने विचार किया—घर बैठे जमाई मिल गया और वह भी ऐसा कि जिसकी स्वप्न में भी संभावना नहीं की जा सकती थी। किन्तु विवाहविधि के समय हवन के लिए काम आने वाली लकड़ियों की आवश्यकता होगी। अभी उन्हें ले आना ठीक रहेगा। इस प्रकार सोच कर सोमिल जंगल की ओर चल दिया।

कृष्ण महाराज और गजसुकुमारजी भगवान् के समवसरण में पधारे। उन्होंने भगवान् के दर्शन किये और विधिपूर्वक वन्दना करके धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए बैठ गये। भगवान् के मुख रूपी चन्द्रमा से धर्म के लोकोत्तर अमृत की वर्षा होने लगी। जिसका आशय इस प्रकार का था—

किससे करिए प्यार यार खुदगरज जमाना है ॥ टेर ॥
भाई कहे तुम भुजा हमारी, मैं सच्चा गमख्वार।
जर जमीन जन के झगड़ों पर, बना वही खूंख्वार ॥
मुकदमा उसने ठाना है ॥किससे०॥

स्त्री कहे प्राण तुम मेरे, जीवन के आधार।
धन सन्तान नहीं होने पर, लगी करन व्यभिचार ॥
हुआ अपना बेगाना है ॥किससे०॥

पुत्र कहे तुम ताज हो मेरे, मैं फरमाबरदार।
ब्याह हुआ तो आंख दिखाई, अलग किया व्यापार ॥
न फिर आना औ जाना है ॥किससे०॥

मित्र कहे मैं जन्म का संगी, तुम मेरे दिलदार।
संकट पड़े बात नहीं पूछी, किया यार को ख्वार ॥
न फिर मुख भी दिखलाता है ॥किससे०॥

जब घर वालों की यह गति है, सब हैं मतलबदार।
बाहर वालों की क्या गिनती, उनका कौन सुमार ?॥
मोह करना दुख पाना है ॥किससे०॥

सच्चा मित्र और साथी हैं, ईश्वर सर्वाधार।
राधेश्याम शरण उसकी चल, तब हो बेड़ा पार॥
दुःखी का यही ठिकाना है ॥किससे०॥

वास्तव में यह संसार बड़ी विचित्र दशा में प्रमाण कर रहा है यहा स्वार्थी, कृतघ्न और छली लोगों की कमी नहीं। दूसरों की बात तो जाने दीजिए, सहोदर भाई भी स्वार्थ के वशीभूत होकर जुल्म करने से नहीं चूकता। जो भाई, माता का देहान्त हो जाने पर अपने छोटे भाई को प्राणों के समान प्यार करता रहा, जिसने स्वयं अनेक कष्ट झेलकर बड़ा किया और कंधे पर लिये लिये फिरा और कोई सख्त चीज अपने दांतों से चबा कर उसे खिलाता रहा यह भाई जब बराबरी का हो जाता है तो दोनों प्रेम के झूले पर झूलते रहते हैं और कोई नयी बात पैदा नहीं होती। किन्तु ज्यों ही विवाह हुआ और द्विपद से चतुष्पद बना कि पशु के रूप में अपना पार्ट अदा करने लगता है। उसका प्रेम और आकर्षण भाई से हट कर पत्नी की ओर चला जाता और पत्नी के हावभाव और नखरों से वह अतीत को भूल जाता है। वह नारी के मोह में पड़कर विशुद्ध बन्धु प्रेम को तिलाञ्जलि दे देता है। बात बात पर भाई से झगड़ा करता है। आज ऐसी अनेक घटनाएं प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं। यहां तक कि भाई-भाई के झगड़े सुप्रीमकोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) तक पहुँच जाते

हैं और लाखों की फीस से वकील अपने बंगले खड़े कर लेते हैं और भाई-भाई की जान का ग्राहक तक हो जाता है।

स्व० पूज्य जवाहरलालजी म० कहा करते थे कि विवाह मनुष्य को चतुष्पद बनाने के लिए नहीं, वरन् चतुर्भुज बनाने के लिए होता है। किन्तु मनुष्य विवाहित होकर चार पैर वाला बन जाता है तो झगड़े शुरु होते हैं। मनुष्य की शादी हुई तो दो पैर उसके और दो पैर उसकी पत्नी के मिल कर चार पैर हो गये। चार पैर मनुष्य के नहीं पशु के होते हैं। मगर जो इन्सान होते हुए भी पशु-सा व्यवहार करता है, उसे पशु के समान ही डंडे खाने पड़ते हैं। किन्तु मनुष्य विवाह करके 'चतुर्भुज' बनता है, उसकी गणना अवतार में होती है। लड़ाई-झगड़े आदि अप्रिय प्रसंग उससे कोसों दूर रहते हैं। उसके यश का मनोहर सौरभ दसों दिशाओं में व्याप्त हो जाता है।

विवाह होने पर मनुष्य के सामने दो विकल्प हैं चतुर्भुज बनना या चतुष्पद बनना। इनमें से जिसे जो बनना हो, वही बन सकता है। चतुर्भुज बनना देवता बनना है और अपने जीवन को उन्नत एवं यशोमय बनाना है, चतुष्पद बनना जीवन को नीचे गिराना है, मनुष्यता का तिरस्कार करना है मैं समझता हूँ, सभी की भावना देवता बनने की होगी, पशु कोई नहीं बनना चाहता होगा। मगर भावना के अनुसार आचरण भी होना चाहिए। जो अपनी उच्च भावना के अनुरूप आचरण नहीं करता, समझना चाहिए कि उसकी भावना प्रबल नहीं हो पाई है। प्रबल भावना होने पर उसके अनुकूल व्यवहार होने ही लगता है।

ऊपर जो पद्य उद्धृत किये गये हैं, उनका आशय यह है कि–हे भव्यात्माओ ! तुम इस संसार मे आकर जिनके संसर्ग में रह रहे हो और जिन्हें अपना कह रहे हो, वे सब सुख में शरीक होने वाले स्वार्थी लोग हैं, जब स्वार्थ सिद्ध न होगा तो तत्काल पराये और शत्रु भी बन जाएँगे। इसके अतिरिक्त जब तुम्हारा अन्तिम समय आएगा, उस समय महाकाल के गाल से बचाने वाला और शरणभूत बनने वाला कोई नहीं होगा। उस घोर संकट के समय में अगर कोई साथी और सहायक हो सकता है तो धर्म ही हो सकता है। धर्म ही समस्त दुःखों और सकटों से बचा सकता है। यह राज्य, धन, वैभव, स्त्री, पुत्र, माता पिता, भाई, बहिन वगैरह कोई भी साथ देने वाला नहीं है। अतः परमार्थ को समझो, सत्य के सन्निकट आओ और आत्मा का अहित करने वाली मोह- ममता का परित्याग कर आत्महित के पथ को अपनाओ।

इस प्रकार भगवान् ने वैराग्य से परिपूर्ण उपदेश दिया उपदेश का गजसुकुमाल के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने इस जीवन मे पहली बार ही तीर्थंकर भगवान् का उपदेश सुना था। किन्तु पूर्वजन्म के उनके धर्ममय संस्कार शक्तिशाली थे। उन संस्कारों के प्रभाव से भगवान् के उपदेश का एक-एक अक्षर उनके अन्तरतर पर असर जमाता गया। वे वहीं बैठे बैठे उपदेश पर मनन करने लगे। श्रीकृष्ण को वापिस लौटने की आतुरता थी, मगर भाई का मन भगवान् की सेवा में ठहरने का देख वे भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके लौट गए।

किसी को धर्मस्थान में ले जाने का आग्रह करना तो

उचित है किन्तु गये हुए को ले आने का आग्रह करना उचि नहीं। किसी की भावना ऊँची हो गई हो और वह अधिक धर्म ध्यान करना चाहता हो तो अन्तराय देना धार्मिक पुरुष का कर्त्तव्य नहीं है। कृष्णजी विवेकशाली पुरुष थे और इस तथ्य को भली भांति समझते थे। अतएव आवश्यक कार्य होने से वे स्वय च गये और गजसुकुमार को वहीं छोड़ गये।

तब गजसुकुमार ने विनीत भाव से भगवान् के प्रति निवेदन किया—भगवन्! मैंने आपके उपदेशामृत का पान किया। मेरे अन्तःकरण में सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हुई है और संसार से विरक्ति भावना जागी है। मैं माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर आपके समीप दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ।

भगवान् ने फर्माया—'अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।' अर्थात् हे देवों के प्यारे! जिस प्रकार तुम्हें सुख उपजे, वैसा करो। उसमें ढील मत करो।

तत्पश्चात् भगवान् को वन्दना करके गजसुकुमार अपने भवन में आये और हाथ जोड़ कर माता पिता से कहने लगे—हे माता-पिता! मैं भगवान् का दर्शन करने गया था। मैंने उनके दर्शन किये और उपदेश भी श्रवण किया।

तब माता-पिता ने कहा—वत्स, तेरे नेत्र और श्रोत्र पवित्र हुए। तेरा जीवन धन्य हो गया। लोकोत्तर पुरुषों की आराधना और उपासना करना मानवजीवन की बड़ी से बड़ी सार्थकता है।

उत्साह पाकर तब गजसुकुमार ने कहा—भगवान् की वाणी

सुन कर मैंने उसे हृदयंगम किया है और मेरा विचार गृहत्याग कर, अनगार अवस्था स्वीकार करके संयम पालने का है।

गजसुकुमार के यह वचन माता-पिता के कानों में पड़े तो उन्हें अत्यन्त वेदना हुई। वेदना के उस आघात को सहन न कर सकने के कारण देवकी मूर्छित हो गई। जैसे चम्पा के झाड़ को कोई काट दे तो वह धड़ाम से धरती पर गिर जाता है उसी प्रकार देवकी भी गिर पड़ीं। उन्हें यकायक मूर्छित हुई देख दासियों ने यथोचित उपचार किया—पानी छिड़का, हवा की, चन्दन का लेप किया। उपचार से देवकी होश में आई। तब उन्होंने विचार किया—मेरा बेटा असत्य भाषण नहीं करता है। अतएव जो इसके मुख से निकला है, उसे अवश्य ही कर गुजरेगा। इस प्रकार माता-पिता को अपनी सन्तान पर पूरा भरोसा था। इसी भरोसे के कारण देवकीजी को मूर्छा आ गई थी।

मगर आज की स्थिति बड़ी विचित्र है। आज सर्वत्र झूठ का घोलमाला है। जीवन के प्रत्येक व्यवहार में और प्रत्येक क्षेत्र में असत्य व्याप रहा है। इस असत्य ने भारतीय जीवन की उज्ज्वलता और पवित्रता पर गहरा प्रहार किया है। असत्य का प्रयोग करने से भारतियों की पैठ चली गई है। आज भारतीयों की प्रतिष्ठा विदेशियों जैसी नहीं रही है। विशेषतया व्यापारिक क्षेत्रों में तो यही अनुभव किया जा रहा है। विदेशी व्यापारी जो कहते हैं और लिखते हैं, उसके पाबंद रहते हैं। चीजों में मिलावट जैसी यहां की जाती है। शायद ही पश्चिम के देशों में की जाती हो। खेद का विषय तो यह है कि इस देश के व्यापारियों

की यह धारणा बन गई है कि झूठ के बिना व्यापार नहीं हो सकता। मगर यह धारणा नितान्त मिथ्या है। झूठ से व्यापारी की प्रतिष्ठा खत्म हो जाती है और जिसकी प्रतिष्ठा नहीं, वह सफलतापूर्वक व्यापार नहीं कर सकता। प्रतिष्ठा व्यापारी की बड़ी पूञ्जी है और वह सत्य व्यवहार से ही सुरक्षित रह सकती है। सत्य से चिपटा रहने वाला व्यापारी प्रारम्भ में भले कठिनाई अनुभव करे, मगर अन्त में अवश्य सफलता पाता है और वह सफलता ऐसी होती है कि झूठे व्यापारी उसकी समानता नहीं कर सकते।

हां, तो देवकी को गजसुकुमार के कथन की यथार्थता पर पूरा विश्वास था। वह समझती थी कि गजसुकुमार की जबान पत्थर की लकीर के समान है। फिर भी देवकी ने कहा—'बेटा! तुम साधु बनना तो चाहते हो, किन्तु यह भी जानते हो कि साधु अवस्था में कितनी और किस किस प्रकार की मूसीबतों का सामना करना पड़ता है? संयम पालने में बहुत कठिनाइयां हैं और तुम्हारा यह सुकोमल शरीर उन्हें सहन नहीं कर सकता' इस प्रकार कह कर माता देवकी ने संयम की कठिनाइयां गिनाईं, जिन्हें भाषा कवि ने यों व्यक्त किया है:—

संयम की कठिनाइयां

(तर्ज—राजा भरथरी रे राजा भरथरी)

म्हाला लालजी रे व्याला लालजी ॥ टेर ॥
लालजी साधपणो अति दोहिलो,
नहिं सोहिलो, पहले जोहि लो।

थाने कहूं समझाय, मानो २ मारी वाय,
हठ कीजिए नाय ॥ १ ॥

लालजी यहां पलंग पर पौढ़नो,
सीरक ओढ़नो, दिन्न चोढ़नो।
उहां जगल मांय, जो भी तरुवर छांय।
दुःख सह्यो नहीं जाय ॥ २ ॥

लालजी, घर घर भिक्षा जावणो,
नहीं शरमावणो, मांगी खावणो।
लेणो शुद्ध आहार, दे या नहीं दे दातार,
दूमण होणो नहीं लगार ॥ ३ ॥

लालजी, सयम भार उठावणो,
पार लगावणो, गम्म खावणो।
निर्वध बोलणो वैण, चालणो गुरुजी कैण,
नहीं लोपणो ऐन ॥ ४ ॥

लालजी वैराग्य रंग छायो मही,
माता कह रही, ललच्यो नहीं।
मेरे गुरु नदलाल, पट्काया प्रतिपाल,
दीनो ज्ञान रसाल ॥ ५ ॥

अर्थात्—हे पुत्र ! संसार के यह भोगोपभोग तेरे सामने हैं और अभी तक तूने इनका ही उपभोग किया है और मुझ जैसी माता, इन जैसे पिता तथा कृष्ण जैसे भाई तुझे लाड़-प्यार करने वाले मिले हैं। इसके अतिरिक्त, देख तो सही, सौ अप्सराओं के समान सुन्दरी कन्याओं के साथ तेरा विवाह होने वाला है। तैयारियां प्रारम्भ हो चुकी हैं। ऐसे अवसर पर तू कहता है

कि मैं साधु बनूंगा! यह कहां तक उचित है? अरे, पहले संसार सम्बन्धी भोग भोग ले, कुल की वृद्धि कर और फिर हमारे परलोक प्रयाण करने के पश्चात् जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा करना।

माता के इन वचनों को सुनकर कुमार ने कहा—हे माता-पिता! आप अपने स्वार्थ और मोह से प्रेरित होकर यह वचन कह रहे हैं। मगर माता, भविष्य किसने देखा है? इस जीवन का क्या भरोसा है? कौन कह सकता है कि हम लोगों में से पहले कौन शरीर का त्याग करेगा और कौन बाद में रह जाएगा? अतएव आत्मकल्याण के उत्तम कार्य में आप विघ्न न डालिए और मुझे संयम ग्रहण करने की सहर्ष आज्ञा दीजिए।

माता ने समझ लिया कि गजसुकुमार का मन संसार के भोग विलासों से उपरत हो गया है और इसका मानना कठिन है, तथापि पुनः रोकने का प्रयत्न करते हुए कहा—बेटा! तू साधु बनना तो चाहता है, मगर यह भी सोच विचार ले कि साधु बनने के बाद अनेक प्रकार के परीषह सहन करने पड़ेंगे। भिक्षा के लिए घर-घर अटन करना होगा। फिर भी कोई दातार देगा, और कोई नहीं भी देगा। कोई आक्रोश-वचन भी कहेगा। उस समय तुम्हारे चित्त में क्षोभ उत्पन्न होगा तो साधुपन भार बन जाएगा। इसलिए इस संकल्प से विरत हो जाओ और कुछ काल तक गृहस्थ होकर ही रहो संसार का अधिक अनुभव प्राप्तकर लेने के बाद संयम अंगीकार कर लेना।

हमने जयपुर जिले में देखा है—वहां कोई साधु किसी गृहस्थ के घर मे जाता है तो मकान-मालकिन मुँह बिगाड़ कर कहती है—उठेई रह, अर्थात् अन्दर मत आ। तो देवकी भी

अपने पुत्र को समझा रही कि—बेटा, कोई तुझे देगा और कोई नहीं भी देगा।

एक समय की बात है। पूज्य श्रीलालजी महाराज दस साधुओं के साथ विहार करते हुए जा रहे थे कि रास्ते में एक पटेल के यहां पोल मे रात्रि विश्राम करने को जगह मिली। सवेरे ध्यान-ध्यान से निवृत हुए और झोली-पात्र लेकर आगे विहार करने की तैयारी की। वे उस पटेल को आज्ञा वापिस करने गये। उस समय एक बाई घर में बुहारू लगा रही थी, यह देखकर महाराज ने सोचा—कुछ 'जोगवाई' हो तो लेते चलें, और उस बाई से कहा कुछ हो तो दो। यह सुनकर उस बाई ने कहा—क्या रात को भूखे ही सोये थे? यह उत्तर सुनकर महाराज चल पड़े। उन्हें मौनभाव से जाते देखकर बाई को विचार आया—अरे, यह तो इतना सा कहते ही जाने लगे! और उसने वापिस बुलाकर कहा—आप तो नाराज होकर जल्दी से चल दिये। मैंने तो यों ही कह दिया था। इतना कहकर वह अन्दर चली गई और राब से भरी मटकी ले आई। महाराज ने पात्र सामने रख दिया। उसने लकड़ी से चाटू से राब देनी शुरु की तो थोड़ी-सी लेने के बाद महाराज ने कहा—घणी, घणी! तब वह बोली—अभी से घणी-घणी कर रहा है तो क्या भूखा रहेगा और अपने साथियों को भूखा रक्खेगा? इस प्रकार कह कर उसने महाराज का पात्र भर दिया।

तो यह साधुपना है, साधु को मान अपमान को समान भाव से ग्रहण करना पड़ता है और प्रत्येक स्थिति में समभाव कायम रखना पड़ता है। निन्दा और स्तुति के प्रसंग उपस्थित

होने पर न विषाद और न हर्ष का अनुभव करना होता है। सदा सन्तोषवृत्ति को जागृत रखना पड़ता है।

तो माता देवकी भी यही कह रही हैं—हे लाल, यहां तो तू जिस वस्तु के लिये आर्डर देता है, वही फौरन हाजिर हो जाती है और सैकड़ों दास तेरे आदेश को मस्तक पर धारण करते हैं। मगर साधुसंघ में यह बात नहीं है। वहां राजकुमार होने के नाते तुझे कोई रियायत मिलने वाली नहीं है। सब साधु समान हैं।

देवकी आगे कहती हैं—बेटा! यहां तू पलंग पर नरम-नरम गद्दों पर सोता है और सर्दी से बचने के लिए रजाई ओढ़ लेता है। अधिक सर्दी हुई तो कमरा गर्म हो जाता है। किन्तु अनगार बनने के बाद ये सब चीजें कहां प्राप्त होने वाली हैं?

और जब तू विहार करेगा तो बिना जूतों के ही चलना पड़ेगा और पैरों में कंकर एवं कांटे चुभेंगे। अगर गांव दूर रह गया तो रास्ते में झाड़ के नीचे भी रात व्यतीत करनी पड़ेगी। वहां कंकरीली धरती पर सोना पड़ेगा। सर्दी हुई तो सर्द और गर्मी हुई तो गर्म हवा भी सहन करनी पड़ेगी। मार्ग में भूख और प्यास की कठिन बाधा भी झेलनी पड़ेगी।

बेटा जैन साधु के वेष को धारण करना तो आसान है। किन्तु साधु के आचार का शास्त्रोक्त प्रकार से परिपालन करना अत्यन्त कठिन है। जिनोक्त संयम को पालना तलवार की धार पर चलना है। वत्स तू इस सुकोमल शरीर से यह सब दुःख कैसे सहन करेगा?

बेटा, हीरों-पन्नों को तोलने का, लकड़ी तोलने का, भार से भरी गाड़ी को तोलने का और जहाज को तोलने का कांटा है, मगर पहाड़ को तोलने का कौन-सा कांटा है ? तो जैसे मेरु पर्वत को तोलना, लोहे के चने चबाना नदी के पूर के सामने जाना और समुद्र को भुजाओं से पार करना कठिन है, उसी प्रकार बल्कि उससे भी अधिक साधुत्व का पालना कठिन है। जैसे बालू रेत का भक्षण करना नीरस है, उसी प्रकार साधुपन भी नीरस है।

और इन सब कठिनाइयों से भी बड़ी कठिनाई है—इन्द्रियों का गोपन करना और मन पर पूरी तरह नियन्त्रण रखना। तू जानता है कि इन्द्रियां कितनी चपल हैं ? और मन की चंचलता की तो कोई सीमा ही नहीं है। मगर संयम अवस्था में इन पर अंकुश रखना पड़ता है। अंकुश रखने का अर्थ यह है कि इन्द्रिय का किसी भी मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषय के साथ सम्पर्क हो जाने पर राग द्वेष न किया जाय। मन को आत्मा में ही निरत करके रक्खा जाय और इधर उधर न भटकने दिया जाय। यह साधना अत्यन्त कष्टसाध्य है। बड़े बड़े योगी भी मन के सामने हार मान बैठते हैं तो तुम्हारे जैसे नवयुवक के लिए यह कितना दुस्साध्य है, यह कल्पना करना आसान है। बेटा, साधुपन की इन सब कठिन प्रतिज्ञाओं को तू कैसे निभाएगा ?

माता के इस कथन के उत्तर में गजसुकुमार ने कहा—हे माता ! इसपार और बेड़ा पार। क्षत्रिय के लिए संसार में कोई भी कार्य कठिन नहीं है। 'यह कार्य मुझसे नहीं हो सकेगा' इस प्रकार की कल्पना कायरों के मन में ही उत्पन्न होती है। धीर वीर

पुरुष सामने उपस्थित कठिनाइयों को देख कर निराश नहीं होते, किन्तु अपने वीर्य को विशेष से प्रस्फुटित करते हैं। ज्यों ज्यों विघ्न प्रबल होते हैं, त्यों-त्यों उनका पराक्रम भी प्रबल होता जाता हैं। कठिनाइयों के सामने हार स्वीकार करना वीर पुरुष जानते ही नहीं हैं। फिर आत्मबल के सामने असंभव भी सुसभव हो जाता है। अतएव मां, मेरे विषय में आप तनिक भी चिन्ता न करें। मैंने आप जैसी क्षत्रियाणी का दूध पिया है। आपकी पवित्र गोदी में मेरा लालन-पालन हुआ है। विश्वास रक्खो मां, तुम्हारे दूध की धवलता मे कलक की कालिमा का एक कण भी नहीं स्पर्श करेगा। मैं तुम्हारी गोदी की प्रतिष्ठा बढ़ाऊँगा।

जब माता समझा कर हार गई और पुत्र के विचारों में कहीं कोई कमजोरी नजर न आई, तब कृष्णजी ने अपने परम-प्रिय अनुज को गोद में लिया और कहा—भैया, यह साधु बनने का समय नहीं है। पहले विवाह कर लो और कुल की वृद्धि करो। फिर साधु बन जाना।

मगर गजसुकुमार कृष्णजी के हार्दिक अनुराग के सामने भी नहीं झुके। उन्होंने तीन खण्ड के नाथ के अनुरोध को भी स्वीकार नहीं किया। नम्रतापूर्ण वाणी में यही कहा—मुझे ससार के भोग भुजगम सरीखे प्रतीत हो रहे हैं। समझ बूझ कर कौन भुजंगम को गले लगाने को तैयार हो सकता है? सच समझिए भाई साहब, मुझे कामभोगों में लेश मात्र भी अभिरुचि नहीं है। मैं अपनी आत्मा का शीघ्र से शीघ्र उद्धार करना चाहता हूँ। अनादि से काम-कीचड़ में फँसे आत्मा को अब और अधिक नहीं फँसा सकता।

कृष्णजी समझ गये कि कुमार के हृदय पर वैराग्य का किरमिची रंग चढ़ चुका है। अब यह उतरने वाला नहीं। तथापि उनका मन नहीं माना। अतएव उन्होंने कहा—खैर, साधु बनना ही है तो बन जाना, किन्तु एक दिन के लिए तो राज्य स्वीकार कर लो। इतने से ही हम सब सन्तोष प्राप्त कर लेंगे।

यद्यपि गजसुकुमार की उम्र छोटी थी, मगर विचार उन्नत और दृढ़ थे। अतएव कृष्णजी के अन्तिम प्रस्ताव पर वे मौन रह गये।

'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्' की उक्ति के अनुसार कृष्णजी समझ गये कि मेरा प्रस्ताव स्वीकृत हो गया है। अतएव शीघ्र ही तैयारियां करके कुमार का धूमधाम के साथ राज्याभिषेक किया गया। कुमार राजसिंहासन पर आसीन हुए। सारी सभा नूतन राजा का जयजयकार करने लगी और सब लोग हुक्म का इन्तजार करने लगे। तब कृष्णजी ने कहा—महाराज, आपकी क्या फरमाइश है?

गजसुकुमार के चित्त में तो एक ही लगन लगी थी—संयम अंगीकार करके अनगारवृत्ति धारण करने की। उनके लिए राज्याभिषेक का महत्त्व एक नाटक से अधिक नहीं था। अतएव इन्होंने उत्तर में कहा—मेरे लिए ओघा-पात्र मँगवा लिये जाएँ, यही मेरी आज्ञा है।

श्रीकृष्ण ने राजकीय कोष से तीन लाख स्वर्णमुद्राएँ निकलवाने की आज्ञा दी। उनमें से दो लाख ओघा-पात्रों के लिए और एक लाख शिरोमुण्डन करने वाले नापित को देने के लिए आदेश दिया गया।

राजा की आज्ञा को कौन टाल सकता था ? तत्काल उनके आदेश का पालन किया गया। एक विराट और विशाल जुलूस का आयोजन हुआ। गजसुकुमारजी ने स्नान किया और वस्त्रा भूषण धारण किये। फिर भगवान् के सन्निकट जाने के लिए अपनी माता के साथ पालखी पर बैठ गये। विविध प्रकार के वाद्य बजने लगे और उनकी ध्वनि से दशों दिशाएँ मुखरित हो उठीं। अपनी निराली शान के साथ चतुरंगिणी सेना आगे-आगे चलने लगी। यदुवंश के बहुसंख्यक सदस्य विभिन्न यान वाहनों पर आरूढ़ हुए। सब मिला कर वह जुलूस अतिशय भव्य, सौम्य और प्रभावोत्पादक था। द्वारिका में घूमता हुआ और नगर-निवासियों के मन में नाना प्रकार की भावनाओं की तरंगे उत्पन्न करता हुआ वह जुलूस भगवान् अरिष्टनेमि के निकट सहस्राम्रवन नामक उद्यान में पहुँचा। भगवान् जब थोड़ी दूरी पर थे, तभी जुलूस रुक गया और सब अपने-अपने यानों और वाहनों से नीचे उतर गये। तत्पश्चात् गजसुकुमार को आगे करके वसुदेव, देवकी तथा कृष्ण आदि भगवान् के समीप गये। माता देवकी ने गम्भीरता और भरे हृदय से भगवान् को वन्दना करके निवेदन किया—

आज सुणी वाणी प्रभु थारी, छायो रंग वैराग्य।
विषय भोग रोग सम जाणी, ललच्यो नहीं महाभाग्य॥

प्यारो लाल हमारो,
लेवे शरण तिहारो,
भव-सागर तारो,
तारो दीनदयाल !

भगवन् ! आज ही आपकी वाणी सुनी और आज ही इस पर गहरा रंग चढ़ गया है। प्रभो ! हमने बहुत समझाया, पर आपके रंग ने इसे ऐसा रंग दिया कि हमारा रंग चढ़ नहीं सका। यद्यपि मैंने बड़ी साधपूर्वक इसे जन्म दिया है, किन्तु मेरे प्रति निर्मोही होकर यह आपश्री की चरण-शरण में आया है। भंते ! कोई आपको अन्न, वस्त्र और पात्र देता है, मैं आपको अपने प्राणप्रिय पुत्र की भिक्षा देती हूँ। आज तक मैंने सर्दी, गर्मी और भूख-प्यास से इसकी रक्षा की, अब आपके चरणों में समर्पित करती हूँ।

वातावरण अत्यन्त शान्त और गम्भीर था। विशाल मानव समूह उपस्थित होने पर भी पूर्ण निस्तब्धता व्याप्त थी। कहीं से कोई सूक्ष्म आवाज भी श्रवणगोचर नहीं हो रही थी। सभी नर नारी भावनाओं की गम्भीरता में निमग्न थे।

इसी समय वैरागी गजसुकुमार ईशान कोण में गये। वहां समस्त वस्त्राभूषणों को उतार कर उन्होंने साधु का वेष धारण किया। तत्पश्चात् भगवान् के चरणों में आकर आजीवन सामायिकव्रत अंगीकार किया और सम्पूर्ण सावद्य व्यापारों का त्याग कर दिया।

दीक्षा विधि सम्पन्न हो जाने के पश्चात् वापिस लौटते समय देवकी महारानी ने भावपूर्ण शिक्षा देते हुए कहा—

नवदीक्षित को माता की शिक्षा

(तर्ज—गूंथी लाओ ए फूलां मालिन म्हारे गेंद गजरो)

सुणो लाल ! जगत पाश वेगा मोह में लाग्यो ॥ टेर ॥

विनय करी खूब गुरुदेव रिझाज्यो,
होय तो अपराध बारम्बार खमाज्यो ॥सुणो०॥
सीख जो बहु ज्ञान परमाद घटाज्यो।
मेघ ज्यूं तपस्या की झड़ी खूब लगाज्यो॥सुणो०॥
आज ज्यूं दिन रात थे वैराग्य बधाजो।
सार दयाधर्म तामे चित्त रमाजो ॥सुणो०॥
फेर दूजी मात के मत कूंख में आजो।
जन्म जरा मरण का सब दु ख मिटाजो ॥सुणो०॥
एतली तुम सीख ऊपर ध्यान लगाजो।
महामुनि नन्दलालजी सुख संपत्ति पाजो ॥सुणो०॥

हे सुपुत्र ! गुरु महाराज का खूब विनय करना और उनके हृदय में स्नेहपूर्ण स्थान बनाना। निरन्तर ज्ञान का अभ्यास करना,क्यों कि ज्ञान-नेत्र से ही मुक्ति मार्ग में सफलता के साथ अग्रसर हो सकोगे। प्रयत्न तो ऐसा करते रहना कि कोई अपराध होने ही न पावे, किन्तु छद्मस्थपन की तरंग के कारण कदाचित् कोई अपराध हो जाय तो तत्काल क्षमायाचना करके उसका परिमार्जन करना, और आत्मा को उन्नत बनाने वाले अहिंसा, संयम एवं तप रूप धर्म के पालन में प्रमाद न करना, और पुत्र ! साधु बने हो तो ऐसी करनी करना कि--आज तो तुमने मुझे रुलाया है, किन्तु फिर किसी माता को रुलाने का अवसर न आवे, अर्थात् ऐसी उत्कृष्ट साधना अपनाना कि फिर जन्म ही न ग्रहण करना पड़े, दूसरी माता न बनानी पड़े, पुनर्जन्म न धारण करना पड़े।

कितनी गहरी साध के बाद गजसुकुमार का जन्म हुआ

था। उसे भी महारानी देवकी ने भगवान् की सेवा में समर्पित कर दिया! क्या आपमें भी ऐसी धर्म भावना है? अगर आपका कोई सम्बन्धी दीक्षा लेना चाहे तो आप भी रुकावट न डालने का निश्चय कर सकते हैं?

इस प्रकार देवकी अपने पुत्र को दीक्षा दिलाकर और साधु जीवन के योग्य शिक्षा देकर परिवार सहित महल को लौट गईं।

गजसुकुमाल मुनि की क्षमा

(तर्ज—मेवाड़ाजी हुकम करो तो हाजिर उभी)

साधपणो शुद्ध आदर्यो,
          कांई धन धन गजसुखमाल, मुनिवरजी ॥ टेर ॥
हो जी नेम जिनन्द भगवान् की, १॥
          कांई आज्ञा लेई ऋषिराय, मुनिवरजी।
तक ऊठे जाई श्मशान में,
          कांई उभा ध्यान लगाय, मुनिवरजी ॥ १ ॥
हो जी सोमिल ब्राह्मण तिण समे,
          कांई जाने नगरी मुझार मुनिवरजी।
तिण वाटे थई नीकल्यो,
          कांई ओलखिया अनगार, मुनिवरजी ॥ २ ॥
हो जी लघु भाई गोविन्दना,
          म्हारी बेटी ने सतायो कांई दोष, मुनिवरजी।
बिन अपराधे परिहरी,
          कांई अधिक भरानो रोष मुनिवरजी ॥ ३ ॥

हो जी आली माटी लायो सर तणी,
काई बांधी मुनि के सिर पाल, मुनिवरजी।
दुष्ट दया आणी नहीं,
कांई सिर धरया खैर अंगार, मुनिवरजी ॥ ४ ॥
हो जी मुनिवर मन्दरगिरि समो,
कांई नहीं कियो क्रोध लगार, मुनिवरजी।
ध्यान थकी चूक्या नहीं,
काई चढ़ी परिणाम की धार, मुनिवरजी ॥ ५ ॥
हो जी चार कर्म दूरा हुआ,
काई पाया केवलज्ञान, मुनिवरजी।
आठों ही कर्म खपायने,
काई पहुंचा शिवपुर स्थान, मुनिवरजी ॥ ६ ॥
हो जी एहवा मुनि का गुण गावतां,
काई पावे सुख भरपूर मुनिवरजी।
'खूबचन्द' कहे तस नाम थी।
काई कारज सिद्ध जरुर, मुनिवरजी ॥ ७ ॥

महाराज वसुदेव, देवकी, श्रीकृष्ण आदि समस्त जनों के वापसि लौट जाने के पश्चात् गजसुकुमार अनगार ने हाथ जोड़कर भगवान् से निवेदन किया—भन्ते! आपकी आज्ञा हो तो मैं भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा अंगीकार करना चाहता हूं। तब भगवान् ने अनुमति देते हुए कहा-जैसे तुम्हें सुख उपजे, वैसा करो।

भगवान् की अनुमति प्राप्त करके वे श्मशान-भूमि में चले गये। वहां उन्होंने भूमि का प्रमार्जन किया और शरीर का ममत्व त्याग कर, वृक्ष के नीचे ध्यान मग्न होकर खड़े हो गए।

संयोग की बात ! उसी समय सोमिल ब्राह्मण अपनी पुत्री के विवाह में काम आने के लिए हवन सामग्री-लकड़ियां लेकर उसी तरफ से निकला। अचानक उसकी दृष्टि मुनि पर जा पड़ी। दृष्टि पड़ते ही ९९ वें लाख भवों के पहले का वैर जागृत हो गया। उसने सोचा आज ही तो मेरी बेटी इसके साथ विवाह के लिए अन्तःपुर मे भेजी गई है और आज ही यह साधु बनकर यहां खड़ा हुआ है। इसने मेरी कन्या के साथ घोर अन्याय किया है। इसने अपने जीवन के साथ मेरी भोली-भाली कन्या के जीवन को भी बर्बाद कर दिया। यह दुष्ट किसी भी प्रकार क्षमा करने योग्य नहीं। इसे सदा के लिए अच्छा सबक सिखाना चाहिए।

कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। कब, किसका, कौनसा कर्म उदय मे आ जाय, यह जानना कठिन है। आज जो हँसते-हँसते कर्म बांध लेते हैं, उन्हें उसका उदय होने पर कितनी वेदना भोगनी पड़ेगी कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, यह कौन जानता है ? कर्म इतने कठोर हैं कि वे किसी का लिहाज या संकोच नहीं करते। वे तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान् को भी नहीं छोड़ते तो अन्य प्राणियों का तो कहना ही क्या है। अतएव विवेकवान व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने मन वचन और तन को इस प्रकार वशीभूत करके रक्खे कि तीव्र पापकर्मों का बन्ध न हो सके।

हां, तो पूर्व जन्म के बैर का बदला लेने की भावना उत्पन्न होते ही सोमिल ब्राह्मण सरोवर से गीली मिट्टी ले आया और ध्यानस्थ मुनि के मस्तक पर उस मिट्टी की पाल बना दी, फिर

जलती हुई चिता में से एक ठीकरे में, धधकते हुए अंगार भर लाया और उनके मस्तक पर उड़ेल दिये। इस प्रकार पैशाचिक कुकृत्य करके उसने अत्यन्त धृष्टता-पूर्वक कहा—हे जमाई! तेरा यह श्वसुर तुझे अनमोल पगड़ी बांध रहा है। ऐसी पगड़ी कभी किसी श्वसुर ने बंधवाई होगी।

इस प्रकार दुष्कृत करके वह फौरन ही, इधर-उधर ताकता हुआ, वहां से चल दिया।

सिर पर धधकते अंगार पड़ते ही गजसुकुमार मुनि की खोपड़ी खिचड़ी की तरह खदबद्-खदबद् करके सीझने लगी। नसें तड़ातड़ टूटने लगीं।

शरीर के साथ एक चिनगारी का क्षण भर के लिए स्पर्श होने पर भी कितनी तीव्र वेदना होती है। मनुष्य एकदम उचक पड़ता है। ऐसी स्थिति में मुनिवर गजसुकुमार की वेदना की कल्पना कीजिए। कितनी भीषण कितनी दुस्सह और कितनी मार्मिक पीड़ा हो रही होगी उनको! मगर मुनिराज अपने आत्मध्यान से किंचित् भी विचलित नहीं हुए! उन्होंने विचार किया—यह सब पूर्वकृत कर्मों का फल है। पहले जो कर्म बांधे हैं, उनका यह फल भोगना पड़ रहा है। अब नये सिरे से कर्म बांधूँगा तो फिर ऐसा फल भोगना पड़ेगा। अतः शान्त एवं समभाव से इस पीड़ा को सहन कर लेने में ही आत्मा का हित है। इसके अतिरिक्त, क्रोध करने या आर्त्त-रौद्रध्यान करने से वेदना में कमी नहीं होगी। बल्कि उसकी तीव्रता और अधिक बढ़ जाएगी।

इस पीड़ा के लिए क्रोध करूँ तो करूँ किस पर ? सोमिल ब्राह्मण पर ? यह तो बेचारा निमित्त मात्र है। मेरे पापकर्मों का उदय न होता तो सोमिल को ऐसी दुष्ट बुद्धि उत्पन्न ही न होती विवेकवान् पुरुष रोग की असली जड़ को ही नष्ट करने का यत्न करते हैं। कोई मनुष्य कुत्ते को पत्थर मारता है तो कुत्ता उस पत्थर पर ही झपटता है। उसे पता नहीं होता कि इसमें पत्थर का अपराध नहीं है—मारने वाला और ही कोई है। इसी प्रकार अज्ञानी जन उसी पर क्रोध करते हैं जिसके निमित्त से उनका कोई अनिष्ट होता है। वे भी यह नहीं जानते कि अनिष्ट करने वाला वास्तव में वह नहीं है। यह आत्मा स्वयं अपना अनिष्ट करता है। कोई किसी दूसरे को सुखी-दुखी नहीं बना सकता।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।

हे भव्य, भली-भांति समझ ले कि तुझे कोई सुख या दुःख नहीं दे सकता। तू इस बुद्धि का परित्याग कर दे कि दूसरा तुझे सुख दुःख दे रहा है। तेरे कर्म ही तुझे सुखी-दुःखी बनाते हैं।

गजसुकुमार मुनि ने विचार किया- शरीर स्वभाव से ही नश्वर है और आत्मा अमर है नश्वर शरीर के लिए आत्मा का अकल्याण करना योग्य नहीं। इस प्रकार विचार करके उन्होंने शरीर का लक्ष्य छोड़कर आत्मा में ही अपना उपयोग स्थिर किया। वह देह में स्थित होकर भी देहातीत दशा का अनुभव करने लगे। मन में किंचित् भी मलीन भावना उत्पन्न नहीं होने दी। वह शुद्ध आत्मस्वरूप में तल्लीन हो गये।

परिणामों की धारा ऊँची चढ़ती गई, चढ़ती ही गई। परिणाम-स्वरुप उनके समस्त कर्म निर्मूल हुए और सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अवस्था प्राप्त करके मुक्त हो गये।

महामुनि गजसुकुमार के पावन जीवन की यह घटना बड़ी ही रोमांचकारिणी है और साथ ही बड़ी ही बोधप्रद भी है। हमें विचार करना है कि आखिर क्यों उन्हें वह अतिशय घोर परीषह सहन करना पड़ा? पूर्वभव का वैर बँधा हुआ था और ९९ वें लाख भवों के बाद उसका बदला चुकाया गया। वैर बँधने की वह कथा इस प्रकार है—

एक सेठ की दो पत्नियां थीं। उनमें एक पुत्रवती थी, दूसरी के कोई पुत्र नहीं था। जिसके लड़का नहीं था, वह दूसरे के लड़के को देख-देखकर जलती-कुढ़ती रहती थी और सोचा करती थी—हाय, मेरे तो लड़का नहीं हुआ और इसके हो गया।

किसी समय लड़के के सिर में गंज हो गई। तब छोटी सेठानी ने बड़ी से पूछा—कोई इलाज जानती होओ तो बतलाओ।

बड़ी सेठानी ने ईर्षा से प्रेरित होकर कहा—बहिन, इलाज तो मैं जानती हूं, मगर वह बड़ा कठिन है।

छोटी ने कहा—कठिन हो तो क्या हुआ। अगर रोग दूर होता है तो वही करूँ।

तब बड़ी सेठानी बोली—ऐसा है तो बतलाए देती हूं। देखो, उड़द का एक रोट सेंक कर, गरम-गरम ही इसकी खोपड़ी पर रख देना और ऊपर से कस कर कपड़ा बांध देना। ऐसा करने

से लड़का चिल्लाएगा, फड़फड़ाएगा, किन्तु तुम इसकी परवाह मत करना और कपड़ा बँधा रखना। ऐसा करने से गंज ठीक हो जाएगी।

छोटी सेठानी बेचारी भोली थी। उसके मन में किसी प्रकार की आशंका नहीं थी। अतएव जिस प्रकार बड़ी सेठानी ने कहा था, उसी प्रकार गरमागरम रोट उसने बालक की खोपड़ी पर चिपका कर बांध दिया। बच्चा छोटा ही था और उस वेदना को सहन न कर सका। उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

बच्चे की मृत्यु होने पर माता बिलख-बिलख कर रोने लगी। प्रथम तो पुत्र की मृत्यु का शोक उसे था, दूसरे वह सोचती थी कि यह मेरी ही मूर्खता का दुष्परिणाम है। हाय, मैं स्वयं अपने प्राणप्रिय बेटे की मृत्यु का कारण बन गई। यह सोच कर उसके शोक का पार न रहा।

बड़ी सेठानी भी आकर रोने लगी और कहने लगी-मुझे क्या पता था कि ऐसा हो जाएगा? हाय, मैंने तो अच्छा होने के लिए ही यह उपाय बतलाया था।

उस बड़ी सेठानी के जीवने ही अनेक जन्म-मरण करने के पश्चात् गजसुकुमार के रूप में जन्म लिया था। उसने दुष्ट आशय से बच्चे के मस्तक पर रोट बँधवाया था और उसके प्राणहरण का सामान जुटाया था, उसी पापकर्म का उदय इस भव में आया और गजसुकुमार मुनि को वैर का बदला चुकाना पड़ा।

तो यह जीव आप ही शुभाशुभ कर्मों का बन्ध करता है और आप ही उनके इष्ट-अनिष्ट फलों को भोगता है। जैनशास्त्रों का तो यह विधान है ही, मनुस्मृति भी कहती है-

कृतकर्मक्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

अर्थात्-जीव ने जो कर्म उपार्जित किये हैं, करोड़ों कल्प व्यतीत हो जाने पर भी, विना फल भोगे, उनका क्षय नहीं हो सकता। उन कर्मों का शुभ अथवा अशुभ फल अवश्य भोगना पड़ता है।

जैनशास्त्र भी कहता है-

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

अर्थात्—कृत कर्मों से, फल भोगे विना, छुटकारा नहीं मिल सकता। हो सकता है कि कोई कर्म विपाक से उदय में आवे और कोई सिर्फ प्रदेशों से ही उदय में आकर निर्जीर्ण हो जाय, मगर उदय में आये विना किसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकता।

मान लीजिए, किसी को किसी का एक लाख रुपया ऋण देना है। वह ९९९९९ रुपया चुका देता है और सिर्फ एक रुपाय देना शेष रह जाता है। तब भी वह पूरी तरह ऋणमुक्त नहीं कहलाता। एक रुपया और देने पर ही वह ऋणमुक्त होता है। इसी प्रकार गजसुकुमाल के जीव ने जो महान् ऋण अपने ऊपर चढ़ाया था, वह अनेक भवों में चुकाया था। फिर भी उसका जो अंश शेष रह गया था, वह इस भव मे चुकाया और पूर्ण रूप से

ऋणमुक्ति पाई। इसके बाद उन्हें मोक्ष प्राप्त करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

गजसुकुमार मुनि का यह इतिहास बार-बार मुनिराज आपके सामने रखते हैं और बार-बार आपको चेतावनी देते हैं कि-निकाचित कर्मों का बन्ध मत करो। बन्ध करोगे तो उनका भीषण फल भोगना पड़ेगा। इस इतिहास को श्रवण कर आपको सावधान होना चाहिए और पापकर्मों से बचना चाहिए।

भाइयो! आपने किसी पूर्वजन्म में प्रबल पुण्य उपार्जन किया होगा, उसी के फलस्वरूप अनमोल चिन्तामणि के समान यह जैनधर्म पाया है। इस धर्म को प्राप्त करके पुण्य की उस पूंजी को बढ़ाना चाहिए, नष्ट नहीं हो जाने देना चाहिए। आत्मा के कल्याण का यही अपूर्व अवसर है। इस अवसर से जो लाभ उठा लेगा और आत्मकल्याण की साधना में निरत हो जाएगा, उसका जीवन धन्य बन जाएगा और वह अनमोल आत्मिक सम्पत्ति का अधिकारी बन जाएगा।

स्मरण रखिए, आत्मा की सम्पत्ति आत्मा में ही विद्यमान है। उसे प्राप्त करने के लिए कहीं बाहर भटकने की या किसी से याचना करने की आवश्यकता नहीं है। संसार का प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति से सम्पन्न है। इसमें वह सब गुण निसर्गतः विद्यमान हैं जो तीर्थंकर भगवान् की आत्मा में पाये जाते हैं या जो सिद्ध भगवन्तों में हैं। अन्तर यही है कि उन्होंने रत्नत्रय की साधना के द्वारा अपने गुणों को विकसित कर लिया है और यह संसारी जीव

विकसित नहीं कर सका है। अतएव भाइयो, अपनी आत्मा को तुच्छ मत समझो और तुच्छ कार्यों में अपनी शक्ति और समय मत गॅवाओ। इस अवसर से पूरा लाभ उठाओ और कर्मों से दबी हुई अपनी शक्तियों को प्रकट करो।

एक जौहरी था वह धन कमाने के लिए विदेश के लिए रवाना हुआ। उसने रास्ते मे एक जगह विश्राम किया। उसने सोचा–कौन भोजन बनाने की झंझट में पड़े और कौन धुँए से आंखें फोड़े। वह एक ब्राह्मणी के घर ठहरा और उससे कह दिया-असुक-असुक भोजन बना देना। ब्राह्मणी ने उसके कथनानुसार भोजन बना तैयार कर दिया। जौहरी भाजन करने बैठा तो उसने प्रेम से भोजन जिमाया और पूछा–आप कहां से आये हैं और कहा जा रहे हैं? आप क्या धधा करते हैं?

जौहरी—मैं दिल्ली से आया हूं और व्यवसाय के लिए आगे जा रहा हूं। जवाहरात का धधा करता हूँ।

ब्राह्मणी-इस धधे में कैसी कमाई होती है?

जौहरी–मां जी, इसमें दो दृष्टि की-कमाई है और इसकी कमाई का कुछ ठिकाना नहीं।

बुढिया–आप दिसावर तो जा ही रहे हो एक काम करो। पचास वर्ष हो गए पर मेरा दु.ख नहीं मिटा। मेरा एक पैसा ले जाओ और एक वर्ष में दुगुना दे देना।

जौहरी ने सोचा–इसमें क्या है। जब इधर से लौटेंगे तो दुगुना दे देंगे। यह सोच कर जौहरी ने कहा–अच्छा मां जी, लाओ दे दो।

बुढ़िया ने पैसा दे दिया। जौहरी अपनी मंजिल पर आगे बढ़ गया और जहां जाना था, वहां पहुँच कर व्यापार करने लगा। व्यापार अच्छा चमका और उसने खूब धन कमाया. जौहरी स्वयं भी अच्छा खाता पीता और घर पर समाचार भेजता रहता।

वहां रहते-रहते २५ वर्ष गुजर गये। एक दिन जौहरी ने सोचा-सारी जिन्दगी क्या कमाई ही कमाई के लिए है? ऐसी भी क्या कमाई कि परिवार वालों का मुख भी देखने को नहीं मिलता। कमाई की है तो घर वालों के साथ रह कर उसका उपभोग भी करना चाहिए।

आपको मालूम ही है कि प्राचीन काल में रेल-गाड़ियां नहीं थी और न हवाई जहाज या मोटरें ही थीं। उस समय काफिले चला करते थे, जिन्हें संस्कृत भाषा में 'सार्थ' कहते हैं। उसका प्रधान 'सार्थवाह' कहलाता था।

तो वह जौहरी भी एक काफिले के साथ रवाना हुआ। चलते-चलते वही गांव आया तो वह उसी ब्राह्मणी बुढ़िया के घर जाकर ठहरा। बुढ़िया अब ७४ वर्ष की हो चुकी थी। उसने बुढ़िया को भोजन बनाने की आज्ञा दी। बुढ़िया उसे पहचान न सकी। अतएव जौहरी जब भोजन करने बैठा तो उसने पूछा—सेठ, आप कहां से आए हो? कहां जा रहे हो? क्या व्यापार करते हो?

तब जौहरी ने अपना परिचय दिया—मैं दिल्ली का निवासी हूं और जवाहरात का धंधा करता हूं। व्यापार के लिए परदेश गया था। पच्चीस वर्षों में घर की ओर लौट रहा हूं।

बुढिया को खयाल आया-पच्चीस वर्ष पहले दिल्ली का एक जौहरी मेरे यहां आया था। यह वही नहीं है ? पूछ लेना चाहिए। यह सोच उसने पूछा-क्या आप पहले भी मेरे यहां आए थे ? और मैने आपको ही एक पैसा दिया था ?

जौहरी—हां, मां जी ! मैं ही तुम्हारे घर आया था और तुमने मुझको ही एक पैसा दिया था।

बुढ़िया—तो सेठ ! मेरे उस एक पैसे का भी हिसाब करते जाना, क्योंकि साहूकार का लेन-देन तो सौ वर्ष तक भी चलता है।

आज तो कानूनी मियाद तीन वर्ष की रह गई है। यदि तीन वर्ष में रकम न ली या नई लिखा-पढ़ी नहीं कराई तो वह रकम डूब जाती है। मगर नैतिकता की दृष्टि से कोई मियाद नहीं होती। ईमानदार आदमी सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी देनदार का देना देता है।

जौहरी ने सोचा-मैंने इतना धन कमाया है तो इस गरीब बुढ़िया को भी मुट्ठी भर दे देना चाहिए। वह बुढ़िया को मुट्ठी भर रुपये देने लगा तो बुढ़िया ने लेने से इंकार कर दिया और कहा हिसाब किये बिना मैं यों नहीं लेने की। हिसाब से कम-ज्यादा जो हो सो दे दो।

जौहरी हिसाब करने बैठा तो एक पैसे के २५ वर्ष में पांच लाख चौबीस हजार दो सौ अठासी रुपये हो गये। यह देखकर जौहरी की आंखें खुल गई। उसने सोचा-इतनी तो मैंने कमाई भी नहीं की है। उसे बुढ़िया की रकम चुकाना कठिन हो गया।

यह एक लौकिक दृष्टान्त है। इसका आशय यह है कि कर्म

उपार्जन करना तो सरल है, किन्तु जब उसका परिपाक होता है तो फल भोगना बहुत कठिन होता है।

गजसुकुमारजी ने जिस कर्म का उपार्जन किया था, ९९ वें लाख भवों के पश्चात भी उसका बदला चुकाना पड़ा और वह बदला भी बड़ा भीषण रहा। अतएव आज मेरा आपसे यही कहना है कि किसी भी प्रकार की दुर्बलता से प्रेरित होकर ऐसा कोई काम न करना, जिसका बदला चुकाने में कठिनाई का अनुभव हो। मनुष्य कभी-कभी किसी विकार के वशीभूत हो जाता है, जैसे कभी राग के, कभी द्वेष के, कभी मोह के और कभी अज्ञानादि के, और फिर आवेश ही आवेश में दुष्कृत्य कर डालता है। किन्तु विवेकशील जन कभी आवेश में आकर कर्त्तव्य भ्रष्ट नहीं होते, अपनी वृत्ति को समभाव में रखते हैं और विवेक की कसौटी पर कस कर ही प्रत्येक प्रवृत्ति करते हैं। आपको भी सदैव विवेक के ही प्रकाश में चलना चाहिए और पापकर्म से बचते रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

स्मरण रक्खो, कर्म किसी का लिहाज नहीं करते। वे अपनी प्रकृति के अनुकूल फल अवश्य देते हैं। अतएव कर्म करते हुए जरा ठंडे हो जाना, अन्यथा उदयभाव में आने पर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। मगर पश्चात्ताप करने पर भी फिर कुछ लाभ नहीं होगा।

धन्य हैं गजसुकुमार मुनि, जिन्होंने कठोर से कठोर कष्टों को बिना किसी व्याकुलता के, बिना किसी क्षोभ और द्वेष के, पूर्ण समभाव से सहन किया। कर्मों के प्रवाह को रोकने का यही प्रधान मार्ग है। अगर पुरातन कर्म का उदय होने पर सम-

ध्यान—रौद्रध्यान किया जाय या क्रोध अथवा द्वेष किया जाय तो नवीन कर्मों का बन्ध हो जाता है और फिर आगे से आगे यह प्रवाह चलता ही रहता है। मगर गजसुकुमार मुनि ने उस प्रवाह को समाप्त कर दिया। शुद्ध आत्मिक भावना के द्वारा नवीन कर्मों का संवरण किया और पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष प्राप्त कर लिया।

भाइयो, इस महापुरुष ने जैसी क्षमा धारण की, वैसी ही क्षमा अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करो। जो भव्य ऐसी उत्कृष्ट क्षमा की आराधना करेंगे और पर्युषण पर्व के इस धर्म-प्रसंग पर धर्मक्रिया करेंगे, वे समस्त दुःखों से छूट कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर अनन्त सुख के भाजन बनेंगे।

२–९–५९
बैंगलोर केन्टोमेन्ट

विपाक-वैचित्र्य

आपाद कण्ठमुरुशृंखलवेष्टिताङ्गा-
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः ।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ।

卐卐

श्रीमान् तुङ्गाचार्य ने बन्धनों से मुक्त होने के लिए भगवान् ऋषभदेव की स्तुति के रूप में भक्तामरस्तोत्र की रचना की, उसका यह ४६ वां पद्य है।

जैसे सूर्य का उदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् के नाम का स्मरण, चिन्तन और जाप करने से आठ प्रकार के भयों में से सभी भय नष्ट हो जाते हैं। इस श्लोक में आचार्य महाराज आठवें भय के विषय में कह रहे हैं—हे प्रभो! यदि किसी पुरुष का पैर से लेकर मस्तक तक सम्पूर्ण शरीर सांकलों से जकड़ा हुआ हो और बड़ी बड़ी बेड़ियों से जांघें छिल रही हों ऐसी दुःखजनक स्थिति में वह पुरुष आपके

भयहारी नाम का स्मरण करता है तो तत्काल अपने आप ही समस्त बधनों से मुक्त हो जाता है।

भाइयों ! वेड़ियां भी दो प्रकार की होती हैं-डंडे वाली और कड़ी वाली। पुराने जमाने में जेलखानों में खोडे होते थे, जिनमें अपराधी का पैर फँसा दिया जाता था। ऐसा करने से वह कहीं जा नहीं सकता था।

मालवा प्रान्त में सती रगूजी का सम्प्रदाय चल रहा है। सती रंगूजी जब गृहस्थावस्था में थीं, छोटी उम्र में ही उनकी शादी हो गई थी। मगर प्रकृति की अज्ञेय लीला बड़ी विचित्र है और उसका रहस्य समझ में नहीं आता। रगूजी को जल्दी ही वैधव्य भोगना पड़ा। धार्मिक संस्कार होने से उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। उनके हृदय में दीक्षा की लेने उत्कट भावना जागृत हुई। उनके सास-सुसर को पता चला कि बहू का भाव दीक्षा लेने का है, तो यह सोचकर कि यह कहीं साध्वियों के साथ भाग न जाय, हाथ, पैरों में वेड़ियां डाल दी। रंगूजी के मन मे पचपरमेष्ठी मत्र के प्रति गहरी आस्था थी। अतएव बन्धन की उस अवस्था में उन्होंने नमस्कार मत्र का जाप किया और मंत्र के दिव्य प्रभाव से उनके हाथों की हथकड़ियां और पैरों की वेड़ियां टूट गईं। जब सास-सुसर ने यह दृश्य देखा तो वे चकित रह गये और सोचने लगे-जब इतने जबर्दस्त लोहमय बन्धन भी टूट गये तो हमारी क्या ताकत है कि इन्हें घर में रख सकें ? आखिर उन्होंने दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान की और रगूजी, धन्नाजी नामक साध्वी की शिष्या बन गईं।

इसी घटना से अनुमान कर लीजिए भगवान् के नाम में

कितनी जबर्दस्त शक्ति है। भगवान् के नाम की लोकोत्तर महिमा तो यह है कि उससे द्रव्य बन्धन ही नहीं, भाव बन्धन भी टूट हो जाते हैं।

भाइयों, यह काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ राग, द्वेष, अज्ञान आदि आत्मिक विकार ही आत्मा के भावबन्धन हैं और ये बन्धन इतने जबर्दस्त हैं कि इनमें जकड़ा मनुष्य अपने हिताहित को भूल जाता है। वह बन्धनों को बन्धन नहीं मानता, उसे कृत्याकृत्य का भान नहीं रहता। यह स्थिति आत्मा के लिए अत्यन्त भयावह है। ऐसी स्थिति मे वीतराग की वाणी ही शरणभूत हो सकती है। वीतराग की वाणी यदि कानों में पड़ जाए और हृदय तक पहुँच जाए तो मनुष्य भावबन्धन को बन्धन समझने लगता है और उससे छुटकारा पाने का अभिलाषी बन जाता है।

भव्य जीवों, संसार सागर से पार होने के लिए भगवान् के नाम की नौका ही सर्वोत्तम साधन है। अगर आप संसार-सागर में डूबने से बचना चाहते हैं और समस्त दुःखों का सदा के लिए अन्त करना चाहते हैं, तो नाम का सहारा लो और अपनी आत्मा को तारो।

अन्तकृद्दशांग सूत्र के आधार पर भी आपको ऐसी ही भावनाओं को प्रदर्शित करने वाले महापुरुषों की कथाएँ सुनाई जा रही हैं। इन कथाओं में जो मर्म छिपा है, वह यही है कि जैसे इन महापुरुषों ने अपने समस्त विकारों पर विजय प्राप्त करके आत्मा को अभ्युदय के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित किया, इसी प्रकार आपको भी करना चाहिए। इन महापुरुषों को

जीवनियां आपके और हमारे लिए राजपथ हैं, जिन पर चल कर हम अपने अभीष्ट लक्ष्य पर सहज ही पहुंच सकते हैं।

अन्तकृत् सूत्र के चार वर्ग आपको सुनाये जा चुके हैं। प्रथम वर्ग में दस, दूसरे में आठ, तीसरे में तेरह और चौथे में दस अध्ययन हैं, सब मिला कर ४१ अध्ययन आपके समक्ष प्रस्तुत किये जा चुके हैं।

प्रस्तुत सूत्र में जिन महान् सन्तों और सतियों का जिक्र किया गया है, वे भी कभी आपके समान ही गृहस्थ थे। कोई राजा थे, कोई राजकुमार थे और कोई दूसरे थे। नारियां में कोई रानी, महारानी और कोई साधारण वर्ग की महिलाएँ थीं। उनकी जिंदगियां सुख के भूले पर भूली थीं। उन्हें सोने के सिंहासन प्राप्त थे और वैभव उनके चरण चूमता था। संसार के समस्त भोगोपभोग उन्हें प्राप्त थे। मगर उनमें एक विशेष बात थी, वह यह कि वे संसार के सुख साधन पाकर अपने आपको भूले नहीं थे। वैभव ने उन्हें अंधा नहीं बना पाया था वे धन वैभव के स्वामी थे, मगर दास नहीं थे। संसार के बन्धनों की तरफ उनका पूरा ध्यान था और उन बन्धनों से मुक्त होने के लिए भीतर ही भीतर उनकी आत्मा छटपटा रही थी। अतएव वे भोगों में तन्मय नहीं बन सके थे। यही कारण है कि उन्होंने भगवान् नेमिनाथ का उपदेश सुना तो उनके विवेक-चक्षु खुल गये और अपने समस्त कर्मबन्धनों को तोड़ने के लिए भगवान की शरण में जा पहुँचे और उनके शिष्य बन गए। संयम-अवस्था में उन्होंने उच्चकोटि की क्रिया की, गहरी आध्यात्मिक साधना की और अन्तिम समय

में केवलज्ञान प्राप्त करके तथा समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लिया।

अभी आपके सामने चौथे वर्ग के दस अध्ययन आए हैं। उनमें जाली, मयाली, उपजालि, पुरुषसेन वारिषेण, प्रद्युम्न, शाम्ब, अनिरुद्ध, सत्यनेमि और दृढनेमि नामक राजकुमारों का उज्जवल चरित सुनाया है।

प्रद्युम्नकुमार के विषय में आपने सुना कि वह तीन खंड के अधीश्वर वासुदेव कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी के अंगजात थे। जन्म होने के पश्चात छठी रात्रि में ही वैरी देवता ने प्रद्युम्न-कुमार का हरण कर लिया। कुमार को हरण करके देवता जंगल में ले गया और वहां उनके प्राणों का अन्त करना चाहा, किन्तु आयु प्रबल होने के कारण देवता का मनोरथ पूरा न हो सका, तब क्रोध के तीव्र आवेश में उसने कुमार को अटवी में नीचे पटक दिया और करोड़ मन पाषाणशिला उनके शरीर पर रख दी, इतना करके देवता वहां से चल पड़ा।

भाइयो, मरने वाला तो मरना चाहता है, किन्तु जो प्रबल पुण्य साथ में लाया है और लम्बा आयुष्य बांधकर आया है, सामान्य देवता की क्या, देवों का राजा इन्द्र भी उसका बाल बांका नहीं कर सकता। प्रद्युम्नकुमार के पास पुण्य की प्रचुर पूंजी थी और वह लम्बी आयु बांध कर आये थे, अतएव करोड़ मन की शिला भी उनके लिए रूई मन गई फूल के समान हल्की और कोमल बन गई।

संयोगवश उसी समय वैताढ्य पर्वत का अधिपति विद्या-

घर अपनी कनकमाला नामक पटरानी के साथ विमान में बैठकर, सीमंधर स्वामी के दर्शनार्थ महाविदेह क्षेत्र की ओर जा रहा था उसका विमान उसी अटवी में होकर गुजरा और जिस शिला के नीचे प्रद्युम्नकुमार दबे थे, उसके ऊपर से जाने लगा तो अकस्मात् रुक गया, एकाएक विमान की गति अवरुद्ध हो जाने से विद्याधर सोच-विचार में पड़ गया। वह नीचे उतरा और इधर-उधर दृष्टि फैलाने पर उसने देखा कि एक बड़ी भारी शिला हिल रही है। विद्याधर यह देखकर विस्मित हुआ और विचार करने लगा—इसमें कोई बड़ा रहस्य होना चाहिए।

विद्याधर ने अपनी विद्या के बल से वह शिला हटा दी। शिला के हटते ही देखा कि एक शिशु वहां क्रीड़ा कर रहा है और अपना अंगूठा चूस रहा है। इतनी भारी शिला के नीचे जीवित शिशु को देख कर विद्याधर की प्रसन्नता और विस्मय का पार न रहा। विस्मय तो इस बात का कि भारी शिला के नीचे यह मृदुलगात शिशु किस प्रकार जीवित रह गया ? और प्रसन्नता इस बात की हुई कि बिना प्रयास ही एक भाग्यशाली बालक हाथ आ गया। उसकी पटरानी भी एक बालक के लिए लालायित थी, क्योंकि उसके एक भी सन्तान उत्पन्न नहीं हुई थी।

तो बालक को देखकर दोनों के हर्ष का ठिकाना न रहा। दोनों ने मिल कर प्रफुल्लितमन से उसे उठाया और प्यार किया। उन्होंने अपने सौभाग्य की सराहना की कि अकस्मात् ही उन्हें ऐसा बलवान् और भाग्यवान् पुत्र प्राप्त हो गया। विद्याधर ने कनकमाला से कहा—अब यह तुम्हारा पुत्र है, इसका अच्छी तरह पालन-पोषण करना। परन्तु कनकमाला ने कहा—मेरा बेटा हुआ

भी तो किस काम का ? यदि मैंने इसे अपना बेटा मान भी लिया तो तुम इसे राज्य देने से रहे। तुम्हारे पहले ही दूसरे बेटे बहुत हैं।

विद्याधर बोला—प्रिये ! इसकी चिन्ता मत करो। शंका है तो लो, मैं अभी राज्यतिलक किये देता हूं। यह बालक आज ही से मेरे राज्य का स्वामी हो चुका।

कनकमाला को अपार प्रसन्नता हुई अपनी मनोकामना पूर्ण हो जाने से और वे दोनों पुत्र को साथ लेकर, विमान में बैठ कर, वैताढ्य पर्वत पर अपने महल में आ गये। उन्होंने इस बालक का नाम प्रद्युम्नकुमार रक्खा। प्रद्युम्नकुमार आनन्दपूर्वक बड़ा होने लगा।

इधर जब महारानी रुक्मिणी की निद्रा भंग हुई और देखा कि पास में पुत्र नहीं है तो उनके विषाद और शोक की सीमा न रही। उनकी समझ में ही नहीं आया कि आखिर पुत्र को कौन उठा ले गया।

इसी समय राजकीय पुरुषों को पुत्र के गायब हो जाने की सूचना दी गई और चारों ओर, सर्वत्र, खोज आरम्भ हो गई। नदियों, नालों, पहाड़ों और गांव गांव में सभी स्थानों पर बच्चे की तलाश की गई। परन्तु कहीं भी बच्चे का पता न चला। जब कृष्ण महाराज को यह सूचना दी गई कि बालक लापता है और ढूँढ-खोज करने पर भी कहीं पता नहीं लग रहा है तो उन्होंने भी बालक का पता लगवाने में कोई कसर न रक्खी, मगर कहीं से कुछ भी सुराग न मिला।

कृष्णजी ने विचार किया-बालक यदि मेरे शासन के अन्तर्गत तीन खण्डों में से कहीं होता तो अवश्य पता लग जाता। मालूम होता है, वह तीन खण्ड से बाहर ले जाया गया है। कृष्णजी इसी चिन्ता में निमग्न थे कि उसी समय कच्छुल नारदजी का आगमन हुआ। ज्यों ही वे कृष्णजी के महल में पहुँचे, उन्होंने उनका स्वागत किया और उच्च आसन पर बिठलाया। रुक्मिणी भी वहां आ पहुँची। उन्होंने कहा-महाराज, क्या करूँ, बड़ा ही गजब हो गया। मेरे बेटे को कोई उठा कर ले गया। बहुत खोज करवाई गई, पर कहीं कुछ भी पता न चल सका। अब आप ही मेरी सहायता कीजिए। मुझ पर दया कीजिए, और मेरा यह काम अवश्य कर दीजिए। आप महाविदेह क्षेत्र में जाकर भगवान् सीमन्धर स्वामी से पूछिए कि मेरा प्राण-प्यारा कलेजे का टुकड़ा कहां है?

नारदजी ने रुक्मिणी की दयनीय दशा देख कर सान्त्वना देते हुए कहा-चिन्ता मत करो देवी, मैं तुम्हारे पुत्र को खोजने का प्रयत्न करूँगा। मैं सोचता हूँ, वह जहां कहीं होगा आनन्द में ही होगा।

इसके बाद नारदजी श्रीकृष्ण और रुक्मिणी से विदाई लेकर, अपने विमान में उड़ते हुए, सीधे महाविदेह क्षेत्र में, जहां सीमन्धर स्वामी विराजमान थे, पहुँचे। उस समय भगवान् की सेवा में चक्रवर्त्ती सम्राट् भी बैठे थे, जिनकी काया ५०० धनुष की थी। उनके सामने यह कच्छुल नारद मच्छर जैसे दिखाई देते थे। नारद जाकर भगवान् के पास ही बैठ गए।

उस समय सीमन्धर स्वामी ने बैठी हुई परिषद् के समक्ष

कहा—भव्य प्राणियो ! इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में कृष्ण वासुदेव नामक तीन खण्ड के राजा राज्य कर रहे हैं। उनकी रुक्मिणी नामक पटरानी है। रुक्मिणी के पुत्र का छठे दिन अपहरण हो गया है। यह जो आपके सामने बैठे हैं, कच्छुल नारद हैं और रुक्मिणी के पुत्र के विषय में पूछताछ करने के उद्देश्य से यहां आए हैं। भगवान् ने पुनः फर्माया—रुक्मिणि देवी का पुत्र जीवित है और सुख में वृद्धि पा रहा है। वैताढ्य पर्वत पर, मेघपुर नगर में, कनकमाला नामक विद्याधरी की गोद में उसका पालन-पोषण हो रहा है। बालक मिलेगा अवश्य, पर अभी नहीं। सोलह वर्ष की उम्र होने पर स्वयमेव मिल जाएगा।

यह वृत्तान्त सुन नारदजी ने पूछा—भगवन्, वह बालक किस प्रकार मिलेगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—जब अंधों की आंखें खुलने लगें, बधिर सुनने लगें, सरोवर जल से लबालब भर जाएँ और सूखे वृक्ष भी हरे-भरे हो जाएँ तो समझ लेना चाहिए कि प्रद्युम्नकुमार पहुँच रहा है।

भगवान् के श्रीमुख से यह वचन सुन कर कच्छुल नारद भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके वहां से रवाना हो गये। वह सीधे वैताढ्य पर्वत पर प्रद्युम्न को देखने के लिए पहुंचे। प्रद्युम्न को देख कर और यह जान कर कि बालक आनन्दपूर्वक वृद्धि पा रहा है, उन्हें हार्दिक संतोष हुआ।

तत्पश्चात् विमान से उतरे हुए नारद द्वारिका नगरी में

आए और रुक्मिणी के महल में पहुंचे। रुक्मिणी ने हर्षित होकर नारद ऋषि का आदर-सत्कार किया। इतनी जल्दी उन्हें लौट कर आया देख रुक्मिणी को विश्वस हो गया था कि वे अवश्य ही कोई शुभ संवाद लाये हैं। अन्था आते ही नहीं। तथापि वह अपनी उत्कंठा को रोक न सकी और तत्काल ही उसने प्रद्युम्न के विषय में प्रश्न किया। तब नारदजी ने भगवान् सीमन्धर के मुख से सुनी हुई सारी बात कह सुनाई। साथ ही निज के वैताढय-पर्वत पर जाने की और अपनी आंखों से प्रद्युम्न को देख आने की बात भी कह दी। अन्त में कहा—सर्वज्ञ भगवान् की उक्ति मिथ्या नहीं हो सकती। अतएव आप लोग किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प न करें और न चिन्ता करें। सोलह वर्ष बीतते क्या देर लगती है। इतना-सा समय बीतने पर वह आप ही आप आजाएगा। उसके आगमन की सूचना किस प्रकार मिलेगी, यह भी भगवान् ने बतला दिया है। जब अधों को दिखाई देने लगे, बहिरे सुनने लगें, सरोवर सलिल से परिपूर्ण हो जाएँ और सूखे वृक्ष भी हरे-भरे हो जाएँ तभी समझ लेना कि तुम्हारा बेटा आ रहा है।

नारद के मुख से अपने पुत्र के विषय में इतनी सूचना पाकर रुक्मिणी को शान्ति प्राप्त हुई। इसके बाद नारद वहां से चल दिये।

अब रुक्मिणी एक-एक दिन गिनने लगी। कब सोलह वर्ष पूरे हों और कब प्राणप्यारे पुत्र का मुख देखने को मिले! बस इसी विचार में रुक्मिणी का समय व्यतीत होने लगा। दिन, महीने और वर्ष भी गुजरते गये।

काल का अप्रतिहत चक्र निरन्तर अबाध गति से चल रहा है। वह पल भर के लिए, किसी के रोके नहीं रुकता। दिन-दिन करके मास और वर्ष व्यतीत हो जाते हैं और मानव के जीवन की अवधि भी एक दिन समाप्त हो जाती है। अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति वही है जो अपने परिमित एवं अल्पकालीन जीवन के बहुमूल्य क्षणों को शाश्वत कल्याण के महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान में लगाता है।

हां, तो दिन व्यतीत होते-होते सोलह वर्ष पूर्ण होने आए, उस समय पुनः एकबार नारदजी का आगमन हुआ, तब रुक्मिणी ने ऋषि का आदर-सत्कार करके पूछा-ऋषिवर ! आप मेरे बेटे को अभी तक नहीं लाए ? देखिए, अब तो आमों को आंखें चुनने लगी हैं, वहिरे सुनने लगे हैं और सूखे जलाशयों में पानी भी आ गया है। परन्तु मेरा लाल अभी तक क्यों नहीं आया।

रुक्मिणी की व्याकुलता परम सीमा पर पहुंच चुकी थी, यह देखकर उसे धैर्य बंधाने के लिए नारदजी ने कहा—क्यों वृथा घबराती हो देवी ! मैं अभी तुम्हारे पुत्र को लाता हूँ।

इतना कह कर नारद वहां से चले और विमान में उड़ते हुए वहां पहुंचे, जहां प्रद्युम्नकुमार रहता था, वहां पहुंच कर उससे कहा—मैं तुम्हें लेने आया हूँ।

प्रद्युम्नकुमार जहां रहता था वहां उसके पांच सौ भाई थे, वह उन सबके साथ बाल्यक्रीड़ा करता हुआ आनन्द पूर्वक समय व्यतीत कर रहा था। अब वह सोलह वर्ष का नवयुवक हो गया

था। सोलह वर्ष की अल्प वय में भी उसका सौन्दर्य अनूठा था। शरीर की कान्ति शरीर में समाती नहीं थी। अंग-अंग में सौष्ठव भरा था, उसका चौड़ा वक्षस्थल, विशाल भाल, प्रभावशाली नेत्र और अतिशय सुन्दर चेहरा—सब मिलकर अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करते थे, उस पर जिसकी दृष्टि पड़ जाती, वहीं गड़कर रह जाती थी। वास्तव में उसका रूप-लावण्य असाधारण था।

प्रद्युम्न की मनोमोहक सलौनी सूरत देखकर एकबार स्वयं कनकमाला भी भान भूल गई, वह अपने मन को सँभाल न सकी उसके चित्त में विकार भावना उत्पन्न हो उठी, तब उसने एकान्त पाकर प्रद्युम्न के सामने अपने विकारभाव को प्रदर्शित करते हुए कहा—तुम हमारे असली पुत्र नहीं हो। हम तुम्हें एक अटवी में से उठाकर लाये हैं। ऐसी स्थिति में यदि तुम मुझे स्वीकार करो तो क्या अनुचित है।

कनकमाला के मुख से यह स्पष्टीकरण सुनकर ही प्रद्युम्न को पता चला कि मैं इनका असली पुत्र नहीं हूँ। मेरे माता-पिता कोई दूसरे ही हैं। किन्तु जिसने प्रारंभ से अब तक पुत्र की तरह मेरा पालन-पोषण किया है, वह जननी न हो तो भी माता ही है। यह कितने खेद की बात है कि माता का पुत्र के प्रति विकार-भाव जागृत हो! माता मोह में फँस कर नीति-अनीति भूल गई है, तो भी मेरा कर्त्तव्य है कि मैं अपने और उसके धर्म की रक्षा करूं।

ऐसा निश्चय करके प्रद्युम्नकुमार भवन से निकलकर वन में चला गया। वहां इधर-उधर घूमते हुए उसे एक लब्धिधारी मुनि के दर्शन हो गए, कुमार मुनि के पास जाकर और विजय-

पूर्वक प्रणाम करके उनकी सेवा में बैठ गया। तत्पश्चात् उसने निवेदन किया—मुनिवर ! इस विराट् जगत में मुझ सा दुखिया कौन होगा। जन्म से ही मैं अपने माता पिता से बिछुड़ गया और आज तक उनका मुख नहीं देख सका। जिसने पुत्रवत् मेरा लालन-पालन किया और जिसे मैंने अपनी माता माना, वही आज विवेकहीन होकर मुझे विकारदृष्टि से देख रही है। अनुग्रह करके बतलाइए कि इसका क्या कारण है ?

तब मुनि ने कुमार के पूर्वभव के वृत्तान्त को ज्ञान से जान कर कहा:—

एक राजा था और इन्दुप्रभा उसकी रानी का नाम था। इन्दुप्रभा 'यथानाम तथागुण' वाली अर्थात् बहुत सुन्दरी थी। उसकी सुन्दरता की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी। उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुन कर हेमरथ नामक राजा उसे उड़ा ले गया। उसने अपनी पत्नी बनाकर इन्दुप्रभा को रख लिया।

इन्दुप्रभा जब अकस्मात महल से गायब हो गई और बहुत प्रयत्न करने पर भी न मिली तो उसका पति उसके वियोग के आघात को सहन न कर सकने के कारण पागल हो गया। वह पागलों की भांति इन्दुप्रभा की तलाश में इधर उधर भटकने लगा। एक दिन इन्दुप्रभा की उस पर नजर पड़ गई। अपने पूर्व-पति की अपने वियोग में ऐसी दुरवस्था देख कर उसे दया उपजी और उसने उसे पुकारकर कहा—इस प्रकार पागल बने हुए क्यों घूम रहे हो ? मैं अब तुम्हारे हाथ आने वाली नहीं हूँ। अतएव मोहमृग से बचो, होश सँभालो और अपना राज्य सँभालो। क्यों वृथा जीवन बर्बाद करते हो ?

राजा ने अपनी प्यारी पत्नी के जब यह शब्द सुने तो उसके मोह का पर्दा हट गया। उसने सोचा—मैंने जिसे अपना दूसरा हृदय समझा था और जिसके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख माना था, जिसके लिए मैं अपने प्राणों की बलि दे सकता था और जो मेरे जीवन का अभिन्न अंग थी, आज वही रमणी मुझे धृष्टतापूर्वक ऐसा उपदेश दे रही है। वह परपुरुष के साथ रमण करती हुई मजा-मौज कर रही है। मानों यह एक साधारण-सी घटना है। धिक्कार है इस संसार को। धिक्कार है मोह के इस विकार को। धिक्कार है इस वासनामय प्यार को।

राजा ने फिर विचार किया—वास्तव में इस संसार में कोई संगी-साथी नहीं है। जो मेरी अर्धाङ्गिनी कहलाती थी, वह भी जब मेरी नहीं बनी तो दुनिया में दूसरा कौन मेरा साथ देने वाला है? दुनिया के सारे नाते झूठे हैं, स्वार्थ की भित्ति पर खड़े हैं। झूठा, कपट और प्रपंच से परिपूर्ण हैं। ज्ञानी पुरुष यथार्थ ही कहते हैं कि मनुष्य के लिए धर्म के सिवाय और कोई सहायक नहीं, कोई शरण नहीं, कोई कल्याणकर नहीं। वास्तव में धर्म ही मेरा बेड़ा पार कर सकता है।

इस प्रकार मानसिक संताप से संतप्त होकर, वैराग्यभावना उत्पन्न होते ही वह तापसदीक्षा से दीक्षित हो गया और तपस्या करने लगा। तपस्या के प्रभाव से मृत्यु होने के बाद उसे देवगति प्राप्त हुई।

उधर इन्दुप्रभा भी मर कर देवलोक में उत्पन्न हुई। उसे भी भाग्य से एक अच्छा निमित्त मिल गया। घटना यों घटित हुई—

इन्दुप्रभा को एक बार एक तीसरे राजा ने देख लिया। उसे प्राप्त करने के लिए वह राजा विशाल सेना लेकर चढ़ आया। हेमरथ ने उसका सामना किया और उसे पराजित करके भगा दिया। इसी प्रसंग में एक दिन बातचीत होने पर इन्दुप्रभा ने हेमरथ राजा से कहा-तुमने भी कौन-सा अच्छा काम किया है ? तुम भी मुझे चुरा कर लाये हो।

जब भवितव्यता अच्छी होती है तो सद्बुद्धि जाग उठती है। किसी दूर समय इन्दुप्रभा ने यह बात कही होती तो हेमरथ जल कर खाक हो जाता और न जाने कितने कटुक वचन कहता, परन्तु आज यह बात उसके हृदय में घर कर गई। उसे अपने कृत्य पर लज्जा हुई, पश्चात्ताप भी हुआ।

आखिर दोनों ने गृहत्याग कर दीक्षा अंगीकार कर ली। उग्र करनी करके—उच्च कोटि का संयम पाल कर अन्त में दोनों बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुए।

अन्त में मुनिराज ने कहा—राजा हेमरथ का जीव तू मधु कनककुमार के रूप में उत्पन्न हुआ है और इन्दुप्रभा का जीव कनकमाला पटरानी के रूप में जन्मा है इस प्रकार कनकमाला तुम्हारे पूर्वजन्म की पटरानी है और पूर्वकालीन प्रीति के कारण ही तुम्हारे प्रति उसके चित्त में मोह-विकार उत्पन्न हुआ है।

भाइयों, जब तक अतीत विस्मृति के पर्दे के पीछे छिपा है, तब तक ही खैर है। अगर पर्दा हट जाता है तो उस नग्न सत्य की एक मूर्ति सामने आकर खड़ी हो जाती है, जिसके तेज को सहन करना प्रत्येक के बस बूते की बात नहीं है।

मुनिराज के मुख से पूर्व जन्म की कहानी सुनकर प्रद्युम्न कुमार ने प्रश्न किया-भगवन्! मेरे माता-पिता कौन हैं? वे कहां रहते हैं?

मुनिराज ने उत्तर दिया-वत्स, भरत क्षेत्र में तीन खण्ड के नायक वासुदेव कृष्ण द्वारिका नगरी में शासन करते हैं। वही तेरे पिता हैं। उनकी महारानी रुक्मिणी तेरी माता है। तेरे जन्म के बाद छठे दिन, हेमरथ राजा के जीव ने, जो तपस्या करके देव बन गया था, अपने पूर्वभव का वैर स्मरण करके, बदला लेने की भावना, से द्वेषभाव पूर्वक तुझे उठा लिया और अटवी में मार डालने की दृष्टि से एक भारी शिला के नीचे दबा दिया। मगर आयुष्य प्रबल होने से तेरी मृत्यु नहीं हुई। संयोग-वश वैताढ्य पर्वत का राजा-विद्याधर तुझे उठा लाया और उसी के यहां तेरा पालन-पोषण हुआ।

अपने पूर्वभव के वृत्तान्त को जानकर प्रद्युम्न कुमार नाना प्रकार के विचारों की तरगों में डूबता-उतराता हुआ, मुनि-राज को वन्दन-नमस्कार करके उठा और चल दिया। रास्ते में उसे विचार आया-कनकमाला के पास दो विद्याएँ हैं। उन्हें प्राप्त किये बिना यहां से छुटकार नहीं हो सकता। यह सोचकर वह पुनः कनकमाला के पास आ गया। उसे लौटा देखकर कनकमाला ने विचार किया-अवश्य ही यह मुझे चाहने लगा है, अन्यथा वापिस लौटकर क्यों आता? और उसने प्रद्युम्न से प्रश्न किया-क्यों वापिस कैसे आ गये?

प्रद्युम्न ने किंचित् बनावटी मुस्कराहट ओठों पर लाकर कहा-मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकार है।

कनकमाला को मानों सर्वस्व मिल गया। वह अत्यन्त प्रसन्न हुई और प्रद्युम्न की खूब खातिर करने लगी।

एक दिन कनकमाला विकारभरी बातें करने लगी कुमार ने कहा–मेरी एक इच्छा की पूर्त्ति कर दो तो मैं आपकी इच्छा की पूर्त्ति कर दूगा।

कनकमाला—वह क्या है?

प्रद्युम्न—आपके पास दो विद्याएँ हैं। अगर वह मुझे सिखा दो तो मैं आपका ही हूं।

कामान्ध जन भविष्य के हिताहित का विचार नहीं कर सकते। उनकी सुबुद्धि पर मलीनता का आवरण चढ़ जाता है। अपनी कामवासना की पूर्त्ति की इच्छा से कनकमाला ने कुमार को दोनों विद्याएँ सिखला दीं।

भाई एक लालची मिल गया और दूसरा ठग मिल गया तो वह काम बन गया। मगर दोनों विद्याएँ सीख लेने पर प्रद्युम्न कुमार ने कहा–माताजी, आप पहले मेरी माता ही थीं, विद्याएं सिखाने से गुरुणी भी बन गई हैं। इस प्रकार आप मेरे लिए विशेष रूप से पूज्य हो गई हैं। हम दोनों के बीच यही सम्बन्ध शोभा देता है। आप मुझे पुत्र की तरह स्नेह दीजिए और मैं माता समझकर आपकी भक्ति करूँगा।

प्रद्युम्न के न्याय-नीतिसंगत वचनों को सुनकर कनकमाला क्रोध से पागल हो उठी। उसने प्रद्युम्न से पूरा बदला लेने का इरादा किया। अपने कपड़े फाड़ लिये बाल बिखेर लिये और हल्लागुल्ला मचाना आरम्भ कर दिया।

ज्यों ही विद्याधर आया तो कनक माला ने उससे कहा—यह लड़का अत्यन्त दुष्ट और दुराचारी है। इसने मेरे साथ बुरा व्यवहार करने की चेष्टा की है।

मनुष्य सब सहन कर सकता है, परन्तु अपनी पत्नी की इस प्रकार की बेइज्जती नहीं सह सकता। दुर्बल से दुर्बल पति भी पत्नी के अपमान का प्रतीकार करने को उद्यत हो जाता है। फिर विद्याधर तो राजा था! उसी के महल में पटरानी का अपमान हो, यह कैसे सहन करता? तो उसे एक दम क्रोध आया और जाच-पड़ताल बिना ही उसने अपने सेवकों को आदेश दिया—इसे पकड़ो और खूब मरम्मत करो।

सिपाही उसे पकड़ने गये तो उसने विद्या के बल से उनका सामना किया और वह पकड़ में नहीं आया। उसने उन्हें वास्तविक बात भी बतला कर अपने को निर्दोष घोषित किया। सिपाही राजा के पास पहुँचे। उन्होंने उसे बतलाया—महाराज! प्रद्युम्न कुमार का कथन है कि महारानी ने अपनी कामवासना की पूर्ति के लिये उसे दो विद्याएँ सिखलाई थीं। मगर उसने उन्हें माता और गुरुणी कह कर अपना पिण्ड छुड़ाया। इसी से चिढ़ कर महारानी ने उस पर यह मिथ्या आरोप लगाया है और उसे मरवा डालने का षड्यन्त्र रचा है।

राजा को असलियत का पता चला तो समझ गया कि वास्तव में दोषी कनकमाला ही है, प्रद्युम्न-कुमार निर्दोष है। कुमार की सदाचार-शीलता से प्रभावित होकर उसने उसे बुलाया और अपने राज्य का स्वामी बना दिया।

जो पुण्यवान् पुरुष होता है और जिसके अन्तः-करण में कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का विवेक जागृत रहता है, वह तीव्र से तीव्र प्रलोभन के सामने भी अपने धर्म से विचलित नहीं होता। वह बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहर्ष झेल लेता है, मगर अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं करता।

इधर प्रद्युम्न कुमार राज्य का उपभोग करने लगा, उधर रुक्मिणी देवी ने नारद जी से आग्रह किया कि मेरे बेटे को लाओ। तब रुक्मिणी के आग्रह से प्रेरित हो कर और प्रद्युम्न के आगमन का काल परिपक्व हो जाने से वे उसके पास गये। राजसभा में पहुँचते ही प्रद्युम्न ने खड़े हो कर नारदजी का भावपूर्ण स्वागत किया और उनके योग्य उच्च आसन पर आसीन किया। तत्पश्चात् उसने प्रश्न किया बाबाजी, आज आपका इस ओर कैसे आगमन हो गया?

नारदजी ने हल्के स्मित से कहा—प्रद्युम्नकुमार! क्या तुम अपने माता पिता से नहीं मिलोगे? मैं तुम्हें उनसे मिलाने के लिये ही आया हूं।

नारदजी की बात सुन कर प्रद्युम्न के हृदय में माता-पिता के दर्शन की सोई हुई उत्कण्ठा सहसा तीव्र रूप में जागृत हो उठी। वह उनसे मिलने के लिए अत्यन्त आतुर हो गया और बोला—बाबाजी, न जाने कब से माता पिता के दर्शन के लिए मन ही मन तड़पता रहा हूँ मगर समझ में नहीं आता था कि किस विधि से उनके दर्शन करूँ! कैसे वहां पहुँचूं? अब आपके अनुग्रह से मेरा पथ प्रशस्त हो गया है। मैं आपके साथ चलने को तैयार हूं।

प्रद्युम्नकुमार विद्याधर के पास पहुंचे। उससे बोले आप का मुझ पर महान् उपकार है। आप ही मेरे जीवन दाता हैं। आपने प्राणों की रक्षा न की होती तो उस अटवी में ही समाप्त हो गया होता। आपने सोलह वर्ष पर्यन्त पुत्र की भांति मेरा लालन पालन किया है और राज्य देकर मेरा गौरव बढ़ाया है। इससे बढ़ कर उपकार किसी का कोई क्या कर सकता है? मैं आजीवन आपके इस उपकार से मुक्त नहीं हो सकता। किन्तु अब मैं अपने माता-पिता के पास जाना चाहता हूं, अतः मुझे जाने की अनुमति दीजिए।

विद्याधर के लिए प्रद्युम्न कुमार का वियोग दुस्सह था। मगर उसे उचित नहीं लगा कि माता पिता से मिलने जाते कुमार को वह मना करे। अतएव भारी हृदय से उसने अनुमति दी और दूसरी कुछ विद्याएँ देकर आखों में आंसू लाकर विमान में बिठा कर रवाना किया। चलते समय कहा—कुमार, अप्रिय प्रसगों को भूल जाना मगर माता-पिता को पाकर हमें न भूल जाना। अपने विशाल हृदय के एक कोने में हमें भी स्थान दिये रहना।

प्रद्युम्नकुमार ने यथोचित उत्तर देकर और नम्रता प्रदर्शित करके विदाई ली। नारदजी विमान चलाने लगे। तब कुमार ने कहा-बाबाजी, विमान मुझे चलाने दीजिए, आप कृपा कर पीछे आराम से बैठ जाइए।

नारदजी ने कुमार की बात मान ली। वे पीछे बैठ गये और कुमार विमान चलाने लगा। मगर आप जानते हैं कि कुमार आखिर बालक ही था और उसका खून उबल रहा था। अतएव

उसने सोचा–'बाबाजी को भी थोड़ा रंग दिखा देना चाहिए।' बस, उसने विमान को तेजी से चलाना शुरु किया। विमान की गति तीव्र हो जाने से पीछे बैठे हुए बाबाजी के तमाम कुंड-कमण्डल इधर से उधर लुढ़कने लगे और वे स्वय भी डगमगाने लगे। तब नारदजी ने कहा–अरे कुमार, इतनी तेजी से क्यों चला रहा है? द्वारिका पहुंचने की इतनी क्या उतावल। यह सुन कुमार ने कहा–अच्छा महाराज, अब ठीक गति से चलाऊँगा।

इस प्रकार चलते-चलते द्वारिका नगरी आ गई। विमान नगरी से बाहर ही रोक दिया गया। दोनों विमान से नीचे उतरे। फिर कुमार ने कहा–ऋषिराज, आपकी बड़ी कृपा रही कि आपने ठिकाने लगा दिया। किन्तु अब आप द्वारिका में स्वय माता-पिता आदि से मिल लूँगा।

कुमार के यह कहने पर नारदजी चले गये। अब कुमार ने सोचा—माता पिता से आज ही मिलना है, परन्तु यूं ही मिलना उचित नहीं। कुछ चमत्कार दिखा कर मिलना ही अच्छा होगा। और नहीं तो [illegible] भिखारी की तरह मिलने से दुनिया को क्या पता चलेगा कि प्रद्युम्न भी वासुदेव का बेटा है? उचित होगा कि मैं अपनी भुजाओं का कुछ पराक्रम दिखा कर [illegible], तो काम दिखाऊँ और अपना सिक्का जमाऊँ।

यद्यपि कुमार प्रद्युम्न [illegible] में आगे थे, किन्तु [illegible] के [illegible] और उनके [illegible] कुछ विशेषताएं थीं जो [illegible] कुमार में नहीं थीं।

तो कुमार नगरी में घुसे और इधर-उधर घूमने लगे। उन्हें कर्णपिशाचिनी विद्या प्राप्त थी। वह जो कुछ पूछना चाहते, कर्णपिशाचिनी उन्हें बतला देती थी। घूमते-घामते उनकी दृष्टि एक महल पर पड़ी और विद्या के द्वारा उन्हें विदित हो गया कि यह मेरी विमाता सत्यभामा का महल है। और उन्हें यह भी मालूम हो गया कि सत्यभामा और रुक्मिणी में सौहार्द नहीं, मनमुटाव चल रहा है। जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने ब्राह्मण का रूप बना लिया और सीधे उस महल में पहुँचे।

ब्राह्मण को देखकर सत्यभामा ने उसका स्वागत किया और बैठने को ऊँचा आसन प्रदान किया। तत्पश्चात् कहा—महाराज, मेरे बड़े भाग्य कि आप पधारे।

ब्राह्मण—महारानीजी, मेरे योग्य कोई कार्य हो तो बिना संकोच किये बतलाइए। मैं आपके मन की बात जानता हूँ। सब ठीक हो जाएगा। मगर आपने मुझे कुछ खिलाया-पिलाया तो है ही नहीं। पहले खाने-पीने को मिल जाय तो मैं स्वयं आपके मन की बात बता दूंगा और आपके मन के अनुसार ही उसे सम्पन्न कर दूंगा।

सत्यभामा—महाराज, यह तो तीन खण्ड के स्वामी का घर है। यहां खाने-पीने की क्या कमी है? आपको जितना खाना हो, खुशी से खाइए।

यह कह कर महारानी ने दासियों को आज्ञा दी कि रसोईघर से भोजन का थाल परोस कर ले आओ। दासी भोजन से सजा थाल ले आई और ब्राह्मण के सामने रख कर बोली—भोजन ग्रहण कीजिए।

ब्राह्मण देवता ने भोजन करना प्रारम्भ किया। वे विद्या के प्रभाव से थाल का समस्त भोजन उदरस्थ करके बोले—और ले आओ।

दासी और भोजन लाई और वह भी सफाचट हो गया, ब्राह्मण भस्मासुर की तरह उसे मुँह में ठूंसता गया! 'लाओ-लाओ' की समाप्ति ही नहीं हुई।

यह हाल देखकर सत्यभामा ने मन में विचार किया—अद्भुत आदमी है ऐसा भूखा ब्राह्मण मैंने कभी नहीं देखा! यह पक्का-कच्चा सभी कुछ हजम कर गया, फिर भी 'और लाओ' की रट लगाये है।

आखिर किसी प्रकार ब्राह्मण देव के भोजन का अन्त आया। तब सत्यभामा ने कहा—लीजिए, अब मैं अपना दुखड़ा आपको सुनाती हूँ। उसका आप प्रतीकार सुझाइए। पण्डितजी! बात यों है—मेरी सौत रुक्मिणी ने मेरे पति श्रीकृष्ण पर ऐसा कुछ जादू कर रक्खा है और अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा है कि वे उसी को चाहते हैं, मुझे नहीं। वह मेरे पास फटकते भी नहीं। अतएव ऐसा कोई उपाय बतलाइए कि रुक्मिणी पर रुष्ट होकर वे मेरे पास आने लगें। उसका जादू टूट जाय और मेरा जादू चल जाय।

प्रद्युम्न कुमार को पहले से ही पता था कि सत्यभामा क्या कहना चाहती है। इसका उन्होंने पहले से ही सोच रक्खा था। अतएव सत्यभामा की बात समाप्त होते ही वह बोले—महा-

रानीजी, इसका उपाय तो मैं बतला सकता हूँ, परन्तु उसकी साधना कठिन है। मालूम नहीं आपसे हो सकेगी या नहीं।

सत्यभामा ने ललचाई दृष्टि से ब्राह्मण की ओर देखकर कहा—इसकी आप चिन्ता न करें। आप उपाय बतला दीजिए। इसके लिए मैं कठिन साधना भी करने को तैयार हूँ।

ब्राह्मण बोला—तो देखिए, आपको अपने सिर के बाल कटवाने पड़ेंगे और काला मुँह करके एकान्त में खड़ी होकर जाप करना होगा। अगर आप इतना करने को तैयार होओ तो आपकी मनोकामना शीघ्र ही पूर्ण हो जाएगी। यह ऐसी साधना है कि कृष्णजी बिना बुलाये, आप ही आप, खिंचे चले आएँगे और आपकी चाटूकारी करेंगे।

सत्यभामा के दिल में गुदगुदी पैदा हो गई। उसने कहा—पण्डितजी, मैं सभी कुछ करने को तैयार हूं। बालों का क्या है, घर की खेती है, फिर उग आएँगे। कालिख पोतनी है तो धुल भी जाएगी।

तब ब्राह्मण ने एक ऊटपटांग मंत्र सत्यभामा को सिखाया और अपना रास्ता लिया। वह उपर्युक्त विधि से मंत्र का जाप करने में लीन हो गई।

कुमार आगे चला तो पुनः एक महल दृष्टिगोचर हुआ। विद्याबल से मालूम हुआ कि यह रुक्मिणी देवी का महल है तब उन्होंने विद्या से पूछा—इन्हें क्या पसंद है? विद्या ने बतलाया—निर्ग्रन्थ मुनियों पर इनकी बड़ी श्रद्धा है।

कुमार ने विद्याबल से फौरन ही सोलह वर्ष के साधु का रूप बना लिया। हाथ में झोली लेकर, यतनापूर्वक, नीची दृष्टि से देखते हुए चलने लगे। इस समय रुक्मिणी झरोखे में बैठी हुई चिन्ता-सागर में गोते लगा रही थी। सोच रही थी–हाय, अंधों को आंखें मिल गईं, सूखे सरोवर सजल हो गये, सूखे तरु हरे-भरे हो गये, मगर मुझ अभागिनी को अभी तक बेटा नहीं मिला।

इसी समय एक मुनि को महल में आता देख उसकी विचारधारा सहसा दूसरी दिशा में बह गई। उसका चित्त हर्षित हो उठा। फिर भी पुत्र की स्मृति में मुनि का स्वागत करना भूल गई। यह देखकर मुनि ने कहा–महारानी! मुझे मालूम है कि तू कृष्ण वासुदेव की पटरानी है और इक्कीस गुणों को धारण करने वाली है। परन्तु हम तेरे द्वार पर आए और तूने हमें पूछा तक नहीं। हमको सोलह वर्ष तपस्या करते हो चुके और पहली बार तेरे द्वार पर भिक्षा के लिए आये हैं। भिक्षा देना तो दूर रहा, तूने पूछा तक नहीं! क्या यही तेरा कर्त्तव्य है?

मुनि के मुख से यह उपालम्भ सुनकर रुक्मिणी देवी को होश आया। वह हाथ जोड़कर कहने लगी–महाराज! क्षमा कीजिए, मेरा ध्यान इस समय किसी दूसरी ओर चला गया था। महाराज, सोलह वर्ष बीत जाने पर भी मुझे मेरा लाल नहीं मिला।

मुनि ने कहा–महारानी! तू मुझे दान दे और फिर अपना पेश ले।

रुक्मिणी हर्षित हृदय हो मुनि को भोजनशाला में ले गई। कृष्ण वासुदेव के नाश्ते में काम आने वाले सिंहमोदक दिखलाकर उसने कहा–महाराज, आधा दूं अथवा पूरा ?

मुनिराज–मैं तो जानता था कि बड़े घर की महिलाएँ कंजूस नहीं होतीं, पर जान पड़ता है कि तू बड़ी कंजूस है।

रुक्मिणी–मैं नहीं देने के अभिप्राय से नहीं पूछ रही, बल्कि इसलिए कि यह मोदक अत्यन्त गरिष्ठ हैं और इनका हजम होना बहुत कठिन है।

मुनिराज—तू इसकी चिन्ता मत कर। जितने हों, सब बहरा दे। आज मेरी सोलह वर्ष की तपस्या की पारणा है और जठराग्नी इतनी तेजी से धधक रही है कि उसमें यह सभी भस्म हो जाएँगे।

रुक्मिणी देवी को मुनि की बात कुछ अटपटी लगी, परन्तु उसने अधिक विवाद करना उचित नहीं समझा और 'तब तो कुछ हर्ज नहीं' कह कर सब मोदक बहरा दिये।

मुनिराज—अगर तुम्हें कोई आपत्ति न हो तो मैं यहीं बैठ कर खा लूं ?

रुक्मिणी–हां महाराज! आप यहीं बैठ कर आरोग लें; मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

आज्ञा मिलते ही कृष्ण जी के आसन पर बैठ गये और सारा पात्र खाली कर दिया। फिर महारानी से कहा कुछ और हों तो ले आओ।

यह देख-सुन कर रुक्मिणी के आश्चर्य का पार न रहा।

इतनी लीला दिखलाने के बाद प्रद्युम्न कुमार ने अपना असली रूप प्रकट कर दिया और माता के चरणों में प्रणाम कर के कहा—माताजी, मैं सोलह वर्ष में आकर तुमसे मिल रहा हूं। कितनी उत्कंठा थी मां को देखने की।

इस भावपूर्ण प्रेम-मिलने में मां—बेटे दोनों ही फूट-फूट कर रोने लगे। थोड़ी देर बाद स्वस्थ हो कर दोनों परस्पर वार्त्तालाप करने लगे। वार्त्तालाप के सिलसिले में प्रद्युम्नकुमार ने कहा—मैं सत्यभामा को चकमा देकर आया हूं—लग्न की तैयारियां हो रही हैं।

इतने में ही सत्यभामा की दासियां आई और रुक्मिणी से कहने लगीं—देवी, अपने सिर के बाल दो।

रुक्मिणी ने कहा—ऐसी क्या बात है ?

उसी समय मां—बेटे दूसरे कमरे में चले गये। वहां प्रद्युम्न रुक्मिणी का रूप बना कर बैठ गये और दासियों को बुला कर बाल काट लेने के लिए कहा। जब दासियां बाल काटने लगीं तो उन्हीं के नाक-कान कट गए। जब वे बाजार में निकलीं तो लोगों ने देख कर उपहास किया। दासियां रोती—चिल्लाती सत्यभामा के पास पहुंची और कहने लगीं—देखिये महारानीजी, आपने हमें बाल लाने भेजा तो हमारी यह दशा हो गई।

सत्यभामा ने सारा हाल सुन कर सोचा—यह बड़ी जादूगरनी है! फिर उसने बलभद्रजी को बुलवाया—आइए दादा

में ऐसा अन्याय हो रहा है ! रुक्मिणी ने मेरी दासियों का यह हाल कर दिया है।

यह फरियाद सुन कर कृष्णजी चुप रहे, मगर बलभद्रजी ने आज्ञा दी कि रुक्मिणी का महल लूट लो। आज्ञा होते ही ५०० सिपाही रवाना हुए और महल में प्रवेश करने लगे। उस समय प्रद्युम्न बूढ़े द्वारपाल का रूप धारण करके द्वार पर खड़ा हो गया। ज्यों ही सिपाहियों ने भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न किया द्वारपाल ने डांट कर कहा—तुम लोग किसके हुक्म से भीतर जा रहे हो ?

सिपाही बोले—महाराज बलभद्रजी ने महल लूटने का हुक्म दिया है। हम अवश्य जाएँगे। अपनी जिन्दगी प्यारी हो तो एक तरफ हो जाओ।

यह सुन बूढ़े द्वारपाल ने तेजी से कहा—अपनी कुशल चाहते हो तो वापिस लौट जाओ। मुझे मारे बिना तुम भीतर प्रवेश नहीं कर सकते और मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकते।

तब सिपाहियों ने कहा—यह बूढ्ढा खूसट बड़ा हैकड़ीबाज है ! यह यों नहीं मानेगा। पकड़ कर हाथ-पैर बांध दो और महल को लूट लो।

सिपाहियों ने हाथ पकड़े तो कुमार ने दोनों हाथ लम्बे बना लिये। इसी प्रकार पैर भी बहुत लम्बे कर दिये। यह हाल देख कर और बूढ़े को कोई भूत-पिशाच समझ कर सिपाही भयभीत हो कर भाग खड़े हुए।

बलभद्रजी के पास जाकर उन्होंने कहा—महाराज! भाग्य से ही प्राण बचे। महारानी रुक्मिणी के महल का द्वारपाल न जाने भूत है या दैत्य है। कुछ समझ में ही नहीं आता। उसने अपने हाथ-पैर इतने बढ़ा लिये कि हम सब को पटक दिया।

हलधर यह सुन कर विस्मित हुए और फिर स्वयं एक छोटी-सी सेना लेकर वहां पहुँचे। लड़ाई शुरु हो गई। प्रद्युम्न-कुमार विद्याधारी थे, अतः अपनी विद्या के प्रभाव से उन्होंने भी अनेक सिपाही बना लिये और शेर की तरह डट कर मुकाबिला किया। आखिर बलभद्रजी के भी छक्के छुड़ा दिये। वे भी हार मान कर चले गए।

इसी समय कुमार ने ऊपर जाकर देखा कि माताजी गंभीर मुद्रा में बैठी हैं। उसने चरणों में पड़ कर नमस्कार किया और कहा—मां, मुझे आज्ञा दीजिए। मैं कृष्ण, बलभद्र आदि सभी यादवों का और पाण्डवों का पराक्रम देखकर फिर आपसे मिलूँगा। यह कह कर वह रवाना हो गया।

अब की बार प्रद्युम्न ने एक नया नाटक रच डाला। उसने एक विमान बनाया और उसमें नकली रुक्मिणी को बिठला कर उसी तरफ से निकला, जिस तरफ कृष्णजी पाण्डवों के साथ बैठे थे। उसने उन्हें सुना कर कहा-ऐ कृष्ण और पाण्डुपुत्रो! सुनो। मैं कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी को ले जा रहा हूँ। यदि किसी में छुड़ाने का सामर्थ्य है तो वह सामने आ जाय और अपनी भुजाओं के बल से रुक्मिणी को ले जाय।

यह सुनते ही श्रीकृष्ण के क्रोध का पार न रहा। उनके विशाल नेत्र रक्तवर्ण हो गये। होठ फड़कने लगे और चेहरा

तमतमा उठा। अपहरणकर्त्ता का इतना साहस कि वह वासुदेव को चुनौती दे रहा है और उन्हीं की पटरानी का हरण कर रहा है।

कृष्ण अपनी सेना लेकर सामने गये। कुमार ने विद्या के प्रभाव से सेना और नाना प्रकार के शस्त्रों का निर्माण कर लिया। जब दोनों की सेनाएँ रणक्षेत्र में सामने आई तो कृष्ण ने सोचा मैंने अनेक लड़ाइयां लड़ी हैं और शत्रुओं की बड़ी-बड़ी सेनाओं को परजित किया है। उनकी तुलना में यह सामन्य सेना है। इसे हराना तो चटुकियों का खेल है।

नारदजी भी मौके पर पहुँच गये। उन्होंने विचार किया-बाप-बेटे में युद्ध होना वांछनीय नहीं है। यह सोचकर वे कृष्ण के पास जाकर बोले—वासुदेव, क्या कर रहे हो? जानते हो, किसके विरुद्ध युद्ध करना चाहते हो? जिसके साथ युद्ध छेड़ रहे हो, वह आपका ही प्राणप्रिय पुत्र है, दूसरा कोई नहीं।

इस प्रकार, कृष्णजी को शान्त करके वे प्रद्युम्नकुमार के पास पहुँचे और कहने लगे—वत्स, पिता के साथ युद्ध करना पुत्र को शोभा नहीं देता।

इस प्रकार बीच-बचाव करके दोनों को शान्त किया। प्रद्युम्न अपने पिता के चरणों में गिर गया। दोनों ओर हर्ष की सरिता प्रवाहित हो उठी। कृष्णजी पुत्र को वधा कर नगर में ले गये। बड़ी धूमधाम के साथ पुत्र के आगमन के उपलक्ष्य में महोत्सव का आयोजन किया गया।

कालान्तर में पचास कन्याओं के साथ प्रद्युम्नकुमार का पाणिग्रहण हुआ और वह गार्हस्थिक सुख का अनुभव करने लगे।

कुछ काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् -प्रद्युम्नकुमार ने भगवान् नेमिनाथ की कल्याणी वाणी श्रवण कर दीक्षा अंगीकार की। संयम की उत्कृष्ट साधना की, ज्ञान का अभ्यास किया और तीव्र तपस्या की। तपस्या की आग में उनकी आत्मा स्वर्ण की भांति विशुद्ध हो गई और समस्त कर्म-विकारों से रहित होकर वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

भाइयो ! प्रद्युम्नकुमार वासुदेव श्रीकृष्ण के लाड़ले पुत्र थे और आप सहज ही समझ सकते हैं कि उन्हें किसी वस्तु की कमी नहीं थी। भोग विलास की सामग्री अनायास ही उनको प्राप्त थी। मगर प्राप्त भोगों को उन्होंने तृण की तरह त्याग दिया और आत्मशान्ति प्राप्त करने के लिए संयम के राजमार्ग पर चलना स्वीकार किया। यह दृष्टान्त आपके सामने है। आप अपने कर्त्तव्य का स्वयं निर्णय कीजिए और उस पर चलने का सुदृढ़ संकल्प करके पर्युषण-पर्व की आराधना को सफल बनाइए। ऐसा करने से आपको भी अक्षय आनन्द की प्राप्ति होगी।

३-९-४१.
बैंगलोर केन्टोनमेन्ट

॥ ओम् अर्हम् नमः ॥

भय-विजय

मत्त द्विपेन्द्र-मृगराज-दवानला-हि-
संग्राम-वारिधि-महोदरवन्धनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते।

卐卐

श्रीमान् तुङ्गाचार्य ने जिनके शरीर पर लोहमय बन्धन बँधे थे, निर्बन्धन होने के लिए, भगवान् ऋषभदेव के स्तोत्र की रचना की। उसके ४७ वें काव्य में यह कहते हैं—

भगवान् ! जो सद्बुद्धि वाला जन आपके इस स्तोत्र का अध्ययन करता है, पाठ करता है, उसके सन्मुख आये हुए आठ प्रकार के महाभय-जैसे मदोन्मत्त हाथी, सिंह, दावानल, सर्प, संग्राम, समुद्र, जलोदर आदि उदररोग और बन्धन संबंधी भय-शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं। प्रभो ! आपके नाम में ऐसा अद्भुत चमत्कार है कि उसका स्मरण करने पर कोई भी भय नहीं टिक सकता।

आचार्य श्री ने ३८ वें श्लोक से प्रारम्भ करके एक-एक भय के विनाश का वर्णन एक एक श्लोक में किया था, और प्रस्तुत श्लोक में उन सबके विनाश का एक ही साथ वर्णन कर दिया है।

यों तो संसार में परिभ्रमण करने वाले आत्मा के लिए पद-पद पर भय के स्थान विद्यमान हैं। यहां भय के कारणों की कोई गणना नहीं हो सकती। कर्मों से आक्रान्त यह जीव किसी भी कारण से भय का पात्र बन जाता है। जब पापकर्म का प्रबल उदय होता है तो सुख के साधन भी दुःख और भय के कारण बन जाते हैं, तथापि ज्ञानी जनों ने उनका वर्गीकरण करके सात अथवा आठ भय बतलाये हैं। आवश्यकसूत्र में अर्थात् साधुप्रतिक्रमण में तथा तेतीस बोल के थोकड़े के सातवें बोल में बतलाया गया है कि संसार में सात प्रकार के भय हैं। उनमें पहला है—इहलोकभय। मनुष्य को मनुष्य से, पशु को पशु से, देव को देव से और नारक को नारक से जो भय होता है, वह इहलोकभय अर्थात् स्वजाति से उत्पन्न होने वाला भय कहलाता है।

दूसरा परलोकभय है। यह विजातीय से उत्पन्न होने वाला भय है। जैसे कुत्ते को मनुष्य से और मनुष्य को कुत्ते से भय होता है। इस प्रकार एक जाति वाले को दूसरी जाति वाले से जो भय होता है, वह परलोकभय कहलाता है।

तीसरा आदानभय है। आदान का अर्थ है धन। धन के कारण मनुष्य को अर्थात् सोने चांदी रुपयों और नोटों आदि को तिजोरी में बंद कर आप हैं और ताला जड़ आए हैं, तथापि आप निर्भय नहीं हैं। उस धन के कारण आप बराबर भयकुल बने

रहते हैं। यह बात मैं ही नहीं कह रहा हूँ, परन्तु और लोग भी कह चुके एक कवि कहता है—

सोना तू तो बड़ा कुपातर, तूने मुझको ख्वार किया।
आप तो सोवे सुख की निंदिया, मुझको चौकीदार किया॥

यहां बतलाया गया है कि-ऐ सोना! तू बड़ा ही कुपात्र है। यद्यपि मैंने तुझे तिजौरी में बंद कर दिया है और सात २ लीवर के ताले भी हिफाजत के लिए बाहर लगा दिये हैं, फिर भी तू चैन नहीं लेने देता। तेरी तरफ से मुझे बराबर भय बना रहता है। मैं घर जाता हूं तो बैठा-बैठा यही सोचता रहता हूँ कि दुकान के ताले तोड़ कर कहीं चोर धन न चुरा ले जाएँ। तिजोरी के ताले तो असावधानी से खुले नहीं रह गए। इस प्रकार अनेक चिन्ताएँ चित्त को व्याकुल और अशान्त बनाएँ रहती हैं, हे धन! तेरे कारण मैं रात्रि में निश्चिन्त नींद भी नहीं ले सकता, मैं सोचता था कि तेरे आने से मेरे दुःख दूर हो जाएंगे, परन्तु हुआ विपरीत। मेरी चिन्ताएँ बढ़ गई हैं। तूने आकर मुझे अपना पहरेदार बना लिया है। तू स्वामी और मैं तेरा सेवक बन रहा हूं।

केवल सिक्के या नोट ही धन नहीं कहलाते हैं, परन्तु जिसने जिसे धन रूप में मान लिया है, उसके लिए वही धन है। इस प्रकार धन के अनेक रूप हैं। पुत्र भी धन है, पत्नी भी धन है, धान्य भी धन है और मित्रादि भी धन हैं। कोई भी धन क्यों न हो, यदि उस पर ममत्वभाव है तो वही भय और चिन्ता का कारण बन जाता है।

भय का असली कारण वस्तु नहीं, ममत्व है। जिस वस्तु को हम अपनी नहीं मानते, उसके विषय में हमें न भय होता है, न चिन्ता होती है और न उसके चले जाने पर शोक होता है। इससे भलीभाँति सिद्ध है कि समस्त भय, चिन्ता और शोक का उद्गम ममत्व से ही होता है। जिसे संसार की किसी भी वस्तु पर ममत्व नहीं है, वह पूर्ण रूप से निर्भय और सुखी है।

चौथा भय आकस्मिक कहलाता है। मान लीजिए, कोई व्यक्ति निश्चिन्त और मस्त बैठा है, उसे किसी प्रकार का भय नहीं है परन्तु एक आदमी आकर उसे पुलिस के आगमन की सूचना करता है। वह व्यक्ति यह समाचार सुनते ही चौंक उठता है और घबराहट के साथ कहता है—मैंने तो किसी के यहाँ चोरी नहीं की है। फिर पुलिस क्यों आई है? इस प्रकार अचानक किसी घटना से या संवाद से भय हो जाना आकस्मिक भय है। सहसा घर में डाकुओं का प्रवेश करना, पानी की बाढ़ आ जाना, अग्नि-प्रकोप हो जाना या रेल का पटरी से उतर जाना आदि-आदि अकस्मात् भय के कारण हैं।

पाँचवाँ मरण भय है। जीव और शरीर के पृथक् होने का भय मरणभय है। यद्यपि जिसने जन्म लिया है, उसका मरण ध्रुव है, इसे कोई टाल नहीं सकता। तथापि मृत्यु की कोई अभिलाषा नहीं करता। सभी प्राणी जीवित रहने की कामना करते हैं। इस कारण मरण भयंकर प्रतीत होता है। यह ऐसा भय है जो व्यक्त या अव्यक्त रूप में प्राणीमात्र के हृदय में

सदैव समाया रहता है और उसका कोई भौतिक प्रतीकार नहीं है।

छठा अपयशभय है। मनुष्य अपनी आजीविका चलाने के लिए या किसी अन्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए छिप कर पापाचरण करता है, फिर भी उसे भय लगा ही रहता है कि कहीं कोई जान न ले और मेरी कीर्त्ति में बट्टा न लग जाए। मनुष्य पापकर्म से उतना नहीं बचना चाहता, जितना अपयश से बचना चाहता है। उचित और हितकर तो यही है कि मनुष्य पापाचार से दूर रहे और कोई अनैतिक कार्य न करे। ऐसा करने से अपकीर्त्ति का कारण ही उपस्थित न होगा। परन्तु मानव-हृदय अत्यन्त दुर्बल है और उसका विवेक लुप्त हो जाता है। वह अपयश के कारणों से बचना नहीं चाहता, मगर अपयश से बचना चाहता है। उसकी यह बालचेष्टा सदा सफल नहीं होती और उसे अपयश का भागी बनना ही पड़ता है। हां, तो मनुष्य को अपयश का भय सदा बना रहता है।

सातवां भय आजीविका का है। जो गृहस्थी बना कर बैठा है और जिसने परिवार का भार अपने सिर पर अंगीकार किया है, उसे आजीविका का अर्थात् जीवननिर्वाह की सामग्री का भय लगा रहता है। अगर व्यापार ठीक नहीं चलता है तो भी भय उत्पन्न होता है।

इस प्रकार मनुष्य के पीछे सात प्रकार के या आठ प्रकार के भय लगे रहते हैं। इन समस्त भयों के उपशमन का उपाय है—भगवान् के नाम का कीर्त्तन, स्तवन और स्मरण। भगवान् का नाम संसार के सब भयों का सदा के लिए अन्त कर देता है।

जिस साधक के अन्तःकरण में सच्ची परमात्मप्रीति उत्पन्न हो गई है, वह भौतिक पदार्थों से प्रेम नहीं करेगा और जब उनसे प्रेम नहीं करेगा तो उनके लिए भय या चिन्ता भी उत्पन्न नहीं होगी। भगवद्भक्त अपनी आत्मा में ही रमण करता है और अपने शरीर को भी पर समझता है। अतएव ममत्व न होने के कारण जगत् का कोई भी संयोग या वियोग उसे भयग्रस्त नहीं कर सकता।

पर्युषणपर्व मानव को संसार के समस्त भयों से मुक्त करने के लिए ही आता है। उसकी यही प्रधान प्रेरणा है कि शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि करो, जिससे कोई भय शेष न रह जाए। जब तक आप पर-पदार्थों को अपना समझते रहेंगे और उन्हीं को शरणभूत एवं सुखदाता मानते रहेंगे, तब तक भयों का अन्त नहीं आ सकता। भय का अन्त करने के लिए मिथ्या धारणा का अन्त करना आवश्यक है। मिथ्या धारणा का अन्त महापुरुषों के जीवनचरितों को सुनने, समझने और उनका गहरा मनन करने से बहुत ही आ सकता है। इसी कारण पर्युषणपर्व के अवसर उन्हें सुनाने की प्रणाली प्रचलित हुई है।

तो आज पर्युषण पर्व का पांचवा दिन है। अभी-अभी मुनि लाभचन्द्रजी ने आपको अन्तकृद्दशांग सूत्र का वांचन कर सुनाया है। इसमें कृष्ण महाराज के लघुभ्राता गजसुकुमारजी के जीवन के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है। आप सुन चुके हैं कि जिस दिन गजसुकुमार मुनि ने संयम अंगीकार किया उसी दिन श्मशान में जाकर प्रतिमा अंगीकार की और ध्यानस्थ होकर खड़े हो गये। सोमिल ब्राह्मण के हृदय में पूर्वजन्म का वैर जागृ

हुआ और उसने उनके मुण्डित मस्तक पर गीली मिट्टी की पाल बांध कर दहकते अंगार भर दिये। गजसुकुमार मुनि उस अत्यन्त भीषण और लोमहर्षक वेदना को समभाव से सहन करके, केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त करके सिद्ध हो गए।

दूसरे दिन प्रातःकाल कृष्णजी भगवान् नेमिनाथ के दर्शन के लिए पहुँचे तो गजसुकुमार मुनि उन्हें दृष्टिगोचर नहीं हुए। तब उन्होंने भगवान् के निकट जाकर पूछा—भगवन्! गजसुकुमार मुनि कहीं दृष्टिगत नहीं हो रहे हैं। कृपया फरमाइए कि मेरे लघुभ्राता वह मुनि कहां हैं, जिससे उनके दर्शन कर सकूँ और सुख-साता पूछ लूँ।

तब भगवान् अरिष्टनेमी ने फर्माया—वासुदेव, तुम्हारे भाई ने जिस अर्थ के लिए दीक्षा अङ्गीकार की थी, वह अर्थ सम्पन्न कर लिया।

कृष्णजी ने कहा—प्रभो! किस प्रकार अर्थ की सिद्धी कर ली? हमें तो कुछ पत्ता नहीं चला। वह कल ही तो साधु बने थे और कल ही क्या मोक्ष प्राप्त कर लिया? यह कैसे सम्भव हुआ।

प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् बोले—कल ही उसने मेरी आज्ञा लेकर साधु की बारहवीं प्रतिमा धारण की और श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग कर लिया। उस समय उस ओर से एक पुरुष निकला। उसे गजसुकुमार को देख कर क्रोध उत्पन्न हुआ। क्रोध के आवेश में उसने ऐसी सहायता पहुंचाई कि उन्हें मोक्ष प्राप्त हो गया।

मोक्ष प्राप्त करने की बात सुन कर कृष्णजी को प्रसन्नता हुई। परन्तु साथ ही आवेश भी आया कि उसने मेरे भाई को नृशंसता पूर्वक मार डाला। उसे मेरा और साधु का भी भय न हुआ।

यह हालत देख कर भगवान ने फर्माया-कृष्ण, इस पुरुष पर क्रोध न करो। उसने तुम्हारे भाई को सहायता ही दी है।

कृष्ण क्रोध होते हुए बोले—भगवन्! उसने सहायता कैसे दी? उसने तो मेरे भाई के अकाल में ही प्राण हरण कर लिये हैं।

तब भगवान ने फर्माया—जब तुम यहां आ रहे थे तब एक वृद्ध को रास्ते में ईंट उठाते देख कर तुम्हें दया आई थी और ईंटों के ढेर में से एक ईंट उठा कर अन्दर रख दी थी। तुम्हें ऐसा करते देख कर साथियों ने भी एक एक ईंट उठाई और वृद्ध की सब ईंटें घर की पल में उठ गईं। ठीक इसी प्रकार की सहायता उस पुरुष ने गजसुकुमार को दी है।

कृष्ण वासुदेव मौन तो अवश्य हो गए, परन्तु दुःख उन्हें बहुत था। लेकिन अब वे कर भी क्या सकते थे? गजसुकुमार को लौटा लाना उनके लिये या दूसरे किसी के लिए भी संभव नहीं था। आखिर उस समय उन्होंने पूछ ही लिया-प्रभो! यह तो बतलाइए कि वह पुरुष कौन है।

भगवान—द्वार में जाते हुए तुम्हें वह पुरुष दिखाई देगा, जिसने गजसुकुमार को सहायता दी है। परन्तु तुम्हें देखते ही वह मूर्छित होकर गिर पड़ेगा और प्राण त्याग देगा। बस, समझ लेना कि इसी ने गजसुकुमार मुनि की सहायता की है।

कृष्ण वासुदेव भगवान् को नमस्कार करके अनमने भाव से रवाना हो गए, परन्तु उन्होंने बीच बाजार से होकर जाना उचित नहीं समझा। वे नगरी के बाहर बाहर हो कर जाने लगे।

सोमिल ब्राह्मण क्रोध के आवेग में पागल हो गया था। अतएव वह उस उन्माद की स्थिति में अतिशय जघन्य कृत्य कर बैठा था, परन्तु जब उसे संज्ञा आई तो भय और पश्चात्ताप की कोई सीमा न रही। कृष्ण के प्रताप और तेज का स्मरण करके वह सिर से पांव तक कांप उठा। उसे ध्यान आया कि वासुदेव भगवान् अरिष्टनेमि की सेवा मे गये हैं और भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। अतएव मेरा दुष्कृत्य उन्हें बतला देंगे और फिर मेरी क्या स्थिति होगी ? वे न जाने किस कुमौत से मुझे मर-वाएँगे !

इस प्रकार मरण भय से आतंकित होकर उसने भी शहर का रास्ता छोड़ दिया और वह बाहर ही बाहर होकर जाने लगा।

अचानक ही कृष्ण वासुदेव का सामना हो गया। वह भय का मारा मूर्छित हो गया और जमीन पर गिर पड़ा। उसी समय उसके प्राण-पखेरू उड़ गए।

उसे देखते ही कृष्णजी समझ गये कि इसी ब्राह्मण ने मेरे भाई को मार डाला है ! अतएव उन्होंने अपने अनुचरों को आदेश दिया कि इस सोमिल ब्राह्मण की लाश जमीन पर घसीटते हुए जगल में फिकवा दो ! और सारी जमीन को पानी

से धुलवा कर स्वच्छ करवाओ, जिससे सब लोग इस नृशंस नराधम की करतूत से परिचित हो जाएँ।

अपने अतिशय प्रिय अनुज के आकस्मिक वियोग की वेदना वासुदेव सहन नहीं कर पा रहे थे। अतएव शान्ति के सागर भगवान् नेमिनाथ की सेवा में पुनः उपस्थित हुए। भगवान् को यथाविधि नमस्कार करके और हाथ जोड़कर उन्होंने निवेदन किया–प्रभो! द्वारिका नगरी स्वर्ण के प्राकार और रत्नों के कंगूरे वाली है। क्या इसका भी विनाश संभव है?

भगवान्–कृष्ण वासुदेव! जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसका विनाश भी होगा।

भगवान् के मुख से 'विनाश' शब्द सुनकर कृष्णजी ने पूछा–इसका विनाश किस प्रकार होगा?

भगवान् के अनन्त ज्ञान में भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् हस्तामलकवत् झलकते थे। उनसे जगत् का कोई रहस्य छिपा नहीं था। इसके अतिरिक्त जैसा वे जानते थे, वैसा कहने की क्षमता भी उनमें थी। अतएव निर्णय देते हुए भगवान् ने कहा–कृष्ण, यहीं पहाड़ों में द्वीपायन ऋषि तपस्या कर रहा है। तुम्हारे राजकुमार किसी दिन मदिरापान करेंगे और नशे में चूर होकर उस ऋषि को सताएँगे। ऋषि मर कर अग्निकुमार जाति देव होगा। तदनन्तर आकर वह वैर का स्मरण करके द्वारिका में आग लगा देगा। उस समय द्वारिका नगरी जल कर राख का ढेर बन जायगी। तुम दोनों भाई नगरी को बचाने का प्रयत्न करोगे, परन्तु बचा नहीं सकोगे। नगरी को बचाने में अपने अंत:

असमर्थ पाकर तुम यह विचार करोगे कि जो जलता है सो जले परन्तु माता-पिता को तो बचा ही लेना चाहिए। इस प्रकार सोच-कर तुम अपने माता पिता को रथ में बिठलाकर पाण्डवों के यहां मथुरा में जाने के लिए रथ खींचोगे, किन्तु ज्यों ही तुम दोनों भाई रथ खींचते हुए दरवाजे में से निकलोगे दरवाजा माता-पिता के ऊपर गिर जाएगा और वहीं उनके जीवन का अन्त हो जाएगा।

कृष्ण ! जिस द्वारिका को बसाने के लिए तुमने तेला किया था और इस सोने की नगरी का निर्माण हुआ था, उसी को आग की लपटों मे भस्म होती हुई देख कर तुम्हारे सन्ताप का पार नहीं रहेगा। परन्तु जो होनहार है, वह हो कर रहेगा। प्रबल भवितव्य को रोकने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। इसके अति-रिक्त, सारा ससार विनाशशील है। यहां कोई भी वस्तु एकान्त शाश्वत नहीं है। किसी का आज तो किसी का कल विनाश अवश्यंभावी है अतएव विवेकी जन प्रत्येक परिस्थिति में समभाव का अवलम्बन करके अपनी मानसिक शान्ति की रक्षा करते हैं। वे इष्टसयोग मे हर्ष का और अनिष्टसयोग मे विषाद का अनुभव नहीं करते। पदार्थों के परिणमन को रोकने की शक्ति जिसमें नहीं है, उसे उनके परिणमन को देख कर हर्ष विषाद भी नहीं करना चाहिए।

यह सुन भारी चित्त से कृष्णजी ने पूछा—प्रभो ! आपने मेरा भविष्य तो बतलाया ही नहीं। अनुग्रह करके वह भी बतलाइए ?

भगवान् ने फर्माया—द्वारिकादाह से तुम्हारी रक्षा होगी, परन्तु एक दिन जरद्कुमार के द्वारा बाण लगने पर तुम्हारी

जीवनलीला समाप्त होगी। मगर चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है। तुम अगली चौबीसी में 'अमम' नामक बारहवें तीर्थङ्कर बनोगे।

आज कृष्ण वासुदेव ने जो कुछ सुना, उससे उनके चित्त में अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी भाव उत्पन्न हो रहे थे—भावों का अंधड़ आ रहा था। तथापि भगवान ने उनका जो भविष्य बतलाया, उसे स्मरण करके उन्हें सान्त्वना भी प्राप्त हो रही थी। वे भगवान को वन्दना नमस्कार करके अपने महल में लौट गये। मगर द्वारिका नगरी के दाह की कल्पना उनके मस्तिष्क में बराबर चक्कर लगा रही थी। पर यह भी समझ रहे थे कि यह तीर्थङ्कर के वचन अन्यथा नहीं हो सकते।

दूसरे दिन प्रातःकाल सिंहासन पर आसीन होकर उन्होंने अपने कौटुम्बिक जनों—सेवकों को बुलाकर आज्ञा दी—तुम द्वारिका के समस्त चौराहों, तिराहों, राजपथों आदि में जाकर सेठ-सेनापतियों, कुंवर-कुंवरानियों, राजाओं रानियों आदि-आदि सभी को सूचना कर दो, अथवा घोषणा कर दो कि यह द्वारिका नगरी एक दिन द्वैपायन ऋषि के कोप से नष्ट होने वाली है। अतएव कृष्ण वासुदेव घर-घर यह आज्ञा देते हैं कि जिस किसी को भगवान नेमिनाथजी के पास दीक्षित होना हो, वे प्रसन्नतापूर्वक दीक्षा अंगीकार कर सकते हैं। कृष्ण वासुदेव उनके दीक्षित होने पर उनके कुटुम्ब के रक्षक होंगे—सब प्रकार से उनका पालन-पोषण करेंगे।

कृष्णजी के आदेशानुसार द्वारिका नगरी में यह घोषणा कर दी गई। घोषणा को सुनकर कृष्णजी की आठ पटरानियों ने

जिन्हें प्राप्त करने के लिए उन्हें बड़ी बड़ी लड़ाइयां करनी पड़ी थीं और बहुतों को मौत के घाट उतारना पड़ा था, दीक्षा अंगीकार कर ली। प्रद्युम्नकुमार और शाम्बकुमार की पत्नियों ने भी प्रव्रज्या अंगीकार करने में ही अपना श्रेय समझा। उन्होंने थोड़े ही समय में उत्कृष्ट साधना करके और समस्त कर्मों का क्षय करके अन्त समय में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्षलाभ किया।

कृष्ण महाराज ने समस्त नगर-निवासियों को सावधान कर दिया और सूचित करवा दिया कि नगरी भस्म होने वाली है, अतएव अपने श्रेय साधन के लिए आयंबिल व्रत आरम्भ कर देना चाहिए। जब तक आयंबिल होता रहेगा, तब तक द्वीपायन ऋषि का जोर नहीं चलने पाएगा और जिस दिन व्रत की आराधना में भंग हुआ, उसी दिन नगरी जल कर भस्म हो जाएगी।

भवितव्य को टाला नहीं जा सकता, फिर भी मनुष्य अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ का परित्याग नहीं कर देता है। कृष्ण महाराज ने यद्यपि सारी शराब नगरी से बाहर फिकवा दी और शराब पीने की सख्त मुमानियत भी करवा दी और बारी-बारी से अयंबिल व्रत भी आरम्भ करवा दिया, मगर होनहार तो होकर ही रहती है।

कृष्णजी की जिन आठ पटरानियों ने दीक्षा अंगीकार की थी, उनमे से एक का जिक्र यहां किया जाता है। कवि ने अपनी भाषा मे इस प्रकार वर्णन किया है—

कंचन में गढ़ कोट कांगरा मणि-रत्नों के बनाया है,
अमरपुरी की ओपमा शास्तर मांही बताया है।

गगनपंथ से आए नारद हरि हलधर शीश नमाया है,
आज्ञा लेई भामा के महल के अन्दर धाया है।
आरिसा मे आप खुद देख रही बिन न्हाया है ॥

॥ शेर ॥

नारद को प्रतिविम्व पड़ियो पूठ सेती आय जी,
भामा रानी भय पामी बोले ऐसी वायजी।
रूप मेरा चन्द्र जैसा आयो राहु समान जी,
नारद को अति क्रोध आयो जाने अगन घृतपानजी।

॥ छोटीकड़ी ॥

ये नारायण की नार गर्व में बोले,
मुझे कहे राहु समान बने चंद-तोले।
परनासु दूजी नार रूप में भारी,
नहिं ले भामा को नाम फेर गिरिधारी ॥

॥ दौड़ ॥

ऐसा करके विचार, जोया घणा नर-नार,
भामा राणी के उणिहार, किहां नहीं पाया २।
कुन्दनपुर के मुझार, भीखम राजा के दरबार,
रुक्मा के उणिहार, तिहां चल आया २ ॥

॥ मिलत ॥

राजसुता को देखन काजे, राजमहल में धाया है;
सब तीन खंड में जीत दुर्जन को दूर हटाया है ॥ टेर ॥

कांचनमय प्रकार से सुशोभित और रत्नों के कंगूरों से मंडित द्वारिका नगरी का सौन्दर्य अनूठा था। वह देवपुरी के

समान थी और इस पृथ्वी के आभूषण के समान प्रतीत होती थी। उस नगरी में अनेक पदवियों के धारक राजपुरुष निवास करते थे। विशाल यदुवंश उसकी शोभा बढ़ा रहा था और वासुदेव कृष्ण उसके अधिपति थे। कृष्णजी की पटरानी सत्यभामा अन्तःपुर का बहुमूल्य आभूषण थी।

एक बार कच्छुल नारद आकाशमार्ग से जाते हुए द्वारिका में प्रविष्ट हुए और सीधे कृष्ण वासुदेव के महल में पहुँचे। उन्हें आते देख हरि और हलधर ने हृदय से स्वागत किया। थोड़ी देर तक कुशलवार्त्ता होने के पश्चात् नारद ने कहा—'कृष्णजी, अन्तःपुर में जाने की इच्छा है।' तब उन्होंने उत्तर दिया-'पधारो स्वामिन् !'

नारदजी रवाना होकर अन्तःपुर में प्रविष्ट हुए। उस समय सत्यभामा दर्पण में निरख-निरख कर शृङ्गार कर रही थी। पीछे से नारद बाबा आए तो दर्पण पर उनकी भी परछाई पड़ी। अकस्मात् नारद की परछाई देख कर सत्यभामा चौंक पड़ी। उसे यह अच्छा नहीं लगा और अपनी जीभ पर वह अंकुश न रख सकी। वह बोल पड़ी—चन्द्रमा का ग्रास करने के लिए यह राहु कहां से टपक पड़ा।

नारदजी इस कथन का आशय समझ गए। उन्होंने सोचा-सत्यभामा अपने मुख को चन्द्रमा और मेरे चहरे को राहु के समान समझती है। इसे अपने सौन्दर्य का इतना गर्व है। अपने रूपसौन्दर्य मे उन्मत्त हो कर इसने मेरा घोर अपमान किया है। ठीक है, समझ लूँगा। अगर इसके सौन्दर्य को दुर्भाग्य रूपी राहु ने सचमुच न ग्रसलिया तो मेरा नाम नारद नहीं।

इस प्रकार नारद बाबा ने निश्चय कर लिया कि सत्यभामा के पीछे राहु लगाना ही होगा। तभी मेरे अपमान का बदला चुकेगा, अन्यथा नहीं। एक स्त्री के लिए उससे बढ़ कर सौत का आ जाना ही राहु लगना है, बल्कि ऐसा ध्रुव राहु है जो सदैव अपना प्रभाव दिखलाता रहता है अतएव सत्यभामा से अधिक रूप-सौन्दर्यसम्पन्न दूसरी रानी आ जाएगी तो इसका अहंकार धूल में मिल जाएगा।

इस प्रकार निश्चय करके क्रुद्ध अवस्था में नारदजी अन्तःपुर से बाहर निकले और कृष्ण आदि से विदा ले कर चल पड़े। अब वे सत्यभामा से अधिक सुन्दरी कुमारी की टोह में ही इधर-उधर भ्रमण करने लगे। घूमते-घामते एक बार कुन्दनपुर के राजा भीष्म के यहां पहुचे। वहां उन्हें राजकुमार दिखाई दिया। वह अत्यन्त ही सुन्दर था। तब उन्होंने पूछा—कुमार की कोई बहिन भी है? राजा भीष्म ने उत्तर दिया—हां महाराज, एक बहिन भी है। नारद ने अनुमान कर लिया कि जब राजकुमार इतना सुन्दर है तो इसकी भगिनी भी अत्यधिक सुन्दरी होनी चाहिये। प्रकट में उन्होंने राजा से कहा—आपकी अनुमति हो तो जरा अन्तःपुर का भी चक्कर लगा लें।

राजा भीष्म ने कहा—ऋषिवर, आप सर्वत्र अप्रतिहत-प्रसार हैं। आपके लिये सब द्वार खुले हैं।

नारदजी अन्तःपुर में गये। वहां उन्हें राजा भीष्म की बहिन मिली। उसने नारदजी को नमस्कार करके उनका स्वागत

किया। तब उन्होंने प्रश्न किया—तुम्हारी भतीजी कहां है? उसे मेरे पास बुलाओ।

यह सुन कर भुआजी ने भतीजी को बुलाया और कहा—देख ऋषि का पदार्पण हुआ है। इन्हें आदर पूर्वक प्रणाम कर। रुक्मिणी ने खड़े ही विनय के साथ भुआजी की आज्ञा का पालन किया और नारदजी को प्रणाम किया। उसके रूप और विनय को देख कर वे अत्यन्त सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए। रुक्मिणी को आशीर्वाद देते हुए कहा—बेटी, मेरा आशीर्वाद हैं, तू कृष्ण महाराज की पटरानी बने।

यह सुन कर भुआजी बोलीं—महाराज, ऐसा न कहिये। इसकी सगाई तो राजा शिशुपाल के साथ हो चुकी है। यद्यपि इसके माता-पिता आदि कृष्ण के साथ ही सगाई करना चाहते थे। मगर भाई ने सब इच्छा के प्रतिकूल शिशुपाल के साथ सम्बन्ध निश्चत कर दिया है। विवाह की तिथि भी निश्चत हो गई है—माघ कृष्णा अष्टमी!

यह सब सुन कर नारदजी मुस्करा कर कहा—भुआजी, आप इसकी चिन्ता न करें। इसका विवाह तो कृष्ण के साथ ही होगा। शिशुपाल की मृत्यु शीघ्र होने वाली है और कृष्ण के विषय में क्या कहना है! उनकी ख्याति से कौन अपरिचित है? इस प्रकार कह कर नारद ने उनकी प्रशंसा में लम्बा-चौड़ा प्रवचन कर डाला और रुक्मिणी के हृदय में उनके प्रति तीव्र प्रलोभन एवं आकर्षण उत्पन्न कर दिया।

भुआजी बोलीं—महाराज, इसके लिए कोई विशेष उपाय करना पड़ेगा। एक बार जो सम्बन्ध निश्चित हो गया है, वह

सहज ही तो टूटने वाला नहीं है। शिशुपाल अपनी मांग
यों ही नहीं छोड़ेगा। वह बड़ा हठी है और जबरदस्त राजा है

नारद ने कहा—इसकी चिन्ता मत करो। शिशुपा
अगर सिंह है तो कृष्ण वासुदेव अष्टापद हैं। उनके साम
शिशुपाल कुछ चीज नहीं है। समय पर सब काम हो जाएगा
हां, रुक्मिणी की इच्छा होनी चाहिये। इसकी इच्छा के विरु
कुछ नहीं किया जा सकता।

यह कह कर नारद उसकी ओर देखने लगे और भुआ
भी। रुक्मिणी के हृदय में पहले ही कृष्ण जी समा चुके थे
अतएव वह नीची गर्दन करके मौन रही।

'मौन सम्मतिलक्षणम्' कह कर नारदजी ने रुक्मिण
की स्वीकृति की घोषणा कर दी और भुआजी को समझा दिय
कि यह बात अभी प्रकट नहीं होना चाहिए।

रुक्मिणी का एक चित्र बना कर नारदजी विदा हुए और
सीधे द्वारिका पहुँचे। उन्हें आया देख कर कृष्ण वासुदेव
हृदय से स्वागत किया और बैठने के लिए उनके योग्य उ
आसन प्रदान किया।

नारदजी कृष्ण के सामने बैठे हुए कभी रुक्मिणी
चित्र को झोली में से निकालते और कभी वापिस रख लेते थे
कृष्ण जी ने यह देख कर हसते हुए कहा—महाराज, आज ऐस
क्या अद्भुत वस्तु आपकी झोली में है। जिसे बार-बार टटोल
की आवश्यकता पड़ रही है।

नारद बोले—आपने ठीक ही अनुमान किया है। चीज वास्तव में अद्भुत है। इतनी अद्भुत कि तीन खण्ड के नाथ ने भी कभी नहीं देखी होगी।

कृष्ण—क्या है महाराज, क्या देख सकता हूँ ?

नारद—दिखा तो सकता हूँ, मगर भय है कि आप देख कर ही सन्तोष नहीं कर लोगे! उसे अपनाने को भी तैयार हो जाओगे और मुझे परेशान करोगे।

कृष्ण—तब तो बिना देखे नहीं मानने का !

नारदजी ने ऐसा प्रदर्शित किया, मानों वे चित्र दिखलाना न चाहते हों और ऐसा करके उन्होंने कृष्णजी के चित्त में गहरी उत्सुकता उत्पन्न कर दी। आखिर कृष्णजी ने नारदजी के हाथ से वह चित्र खींच कर ले ही लिया। चित्र को बड़े गौर से देखने के बाद वे कुछ गभीर से हो गये। वह चित्र उनके चित्त पर चढ़ गया।

नारदजी का मनचाहा हुआ। वे यही चाहते थे और इसी उद्देश्य से आए थे।

चित्र को भलीभांति देख कर कृष्ण ने पूछा—ऋषिवर, चीज तो वास्तव में अद्भुत है, मगर यह भी तो बतलाइए कि यह अपकी रचना है या विधाता की ? ऐसा जान पड़ता है कि यह आपके ही कौशल का मूर्त्त रूप है। विधाता की ऐसी सृष्टि दूसरी कहीं देखने में नहीं आई।

नारद ने उत्तर देते हुए कहा—महाराज, जिस कन्या का यह चित्र है, वह वास्तव में विद्यमान है और इसी मर्त्यलोक मे है।

कृष्ण—किसकी कन्या है ?

नारद—कुन्दनपुर के राजा भीष्म से तो आप परिचित ही हैं। यह चित्र उसी की कन्या रुक्मिणी का है। यह कन्या हृदय से आपको चाहती है, पर उसका भाई उसे शिशुपाल के गले मढ़ना चाहता है। विवाह की तिथि निश्चित हो चुकी है। उससे पहले ही आप पहुंच सकें और उद्धार कर सकें तो ठीक अन्यथा आपको उसकी हत्या के पाप का भागी होना पड़ेगा। रुक्मिणी प्राण दे देगी परन्तु शिशुपाल को अंगीकार नहीं करेगी। उसकी भुआ ने भी मुझे बहुत कहा है और एक अबला के प्राणों की रक्षा के लिए मैं यहां तक चला आया हूँ। तुम्हारे नाम पर एक पत्र भी शीघ्र ही आने वाला है।

इतना कह कर नारदजी वहां से रवाना हो गए। उधर भुआजी ने कृष्णजी के नाम एक पत्र देकर सांडसवार को द्वारिका भेजा। वह सवार शीघ्र ही द्वारिका पहुँचा। कृष्णजी को वधा कर उसने वह पत्र उनकी सेवा में उपस्थित कर दिया। कृष्ण और बलभद्र—दोनों ने वह पत्र पढ़ा। कृष्ण विचार में पड़ गए। तब बलभद्र ने विचार किया—कृष्ण का भी मन हुआ दीखता है। यह सोच कर उन्होंने कहा—भाई, एक कुमारिका के प्राणों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य है।

तब कृष्ण ने उस सवार से पूछा—हमें किस समय वहां पहुँच जाना चाहिए ?

सवार—महाराज, ठीक लग्न के दिन ही आपका वहां पहुँचना उपयुक्त होगा।

कृष्णजी ने यथासमय पहुँच जाने की स्वीकृति दे दी और सवार वापिस कुन्दनपुर की ओर लौट गया।

निश्चित समय पर कृष्ण वासुदेव अपने भाई बलभद्रजी के साथ कुन्दनपुर पहुँच गए और नगर के बाहर प्रमदवन उद्यान में छिप कर ठहर गए।

उस ओर नारदजी द्वारिका से रवाना होकर शिशुपाल का मटियामेट करने के लिए उसके पास पहुँचे। शिशुपाल ने उन्हें आया देख स्वागत किया यथोचित आसन प्रदान किया। फिर पूछा—ऋषिवर, आज अचानक कैसे पदार्पण हुआ ? क्या कोई नई बात है ?

नारद-नहीं महाराज, कोई विशेष बात नहीं है। यों ही इधर होकर निकला तो सोचा कि आपसे मिलता चलूँ। फिर क्या पता, कब मुलाकात हो।

इतना कह कर नारद ने पूछा—आज राजमहल में क्या कोई उत्सव मनाया जा रहा है ? कोई खुशी की बात है क्या ?

शिशुपाल—बाबाजी, क्या आपको नहीं ज्ञात है कि कुन्दनपुर के राजा भीष्म की कन्या रुक्मिणी के साथ मेरा विवाह होने जा रहा है ! इसी माघ कृष्णा अष्टमी को विवाह होगा।

तब नारदजी बोले -आप अपनी जन्मकुण्डली मुझे दिखलाएँगे ?

शिशुपाल ने जन्मकुण्डली मँगवाकर नारदजी को दी। तब बड़े गौर से कुण्डली देख कर वे बोले—शिशुपाल ! इस लग्न में

मुझे तो विघ्न दिखाई देता है। ऐसे ग्रह हैं कि आपका मनोरथ शायद ही पूर्ण हो। रुक्मिणी को दूसरा कोई व्याह ले जाएगा। तुम्हें अपना भक्त जान कर यह चेतावनी दे रहा हूँ। सो अगर विवाह करने जाओ ही तो पूरी तैयारी के साथ, सेना लेकर जाना। सुना है कृष्ण भी आएगा।

नारदजी का कथन सुन कर अभिमान के साथ शिशुपाल ने कहा—बाबाजी, यह गायों को चराने वाला और बेचारी ग्वालिनों को लूटने वाला कृष्ण मेरा क्या बिगाड़ सकता है? अगर वह मेरे सामने आ गया तो बच कर नहीं जा सकता।

नारदजी-ठीक है, यह तुम जानो। चेतावनी दे देना मेरा कर्त्तव्य था और मैंने उसका पालन किया।

नारदजी आग लगा कर वहां से रफूचक्कर हुए और अपनी करामात का परिणाम देखने की प्रतीक्षा करने लगे। शिशुपाल सबल सैन्यशक्ति से सुसज्जित होकर निश्चित तिथि पर कुन्दनपुर पहुँच गया। उसने पहुंचते ही सारे नगर को घेर लिया।

रुक्मिणी ने शिशुपाल को विशाल सेना के साथ आया देखा और यह भी देखा कि उसकी सेना ने नगर के चारों ओर घेरा डाल दिया है। यह देख वह चिन्तित और व्याकुल हो गई भुआजी ही सारी बातों से परिचित थीं, अतएव उसने उन्हीं से कहा-भुआजी, अब क्या होगा?

भुआजी ने कहा-बेटी, तू तनिक भी चिन्ता मत कर। समय पर सब ठीकठाक हो जाएगा।

लग्न का समय आने वाला था तो भुआजी ने शिशुपाल के पास संदेश भेजा–हमारे कुल की रीति के अनुसार रुक्मिणी पहले नगर के बाहर के उद्यान में स्थित मन्दिर में पूजा करने जाएगी। अतएव आप उसे पूजा के लिए जाने की आज्ञा दीजिए।

शिशुपाल ने सहर्ष आज्ञा दे दी। रुक्मिणी पूजा के बहाने प्रमदवन में पहुंची, जहां कृष्ण उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। दोनों का सामना हुआ और रुक्मिणी ने कृष्ण के गले मे वरमाला डाल दी। इस प्रकार विवाहविधि सम्पन्न हो जाने के पश्चात् कृष्ण ने अपना पांचजन्य शख बजाया और तहलका मचा दिया। शिशुपाल ने कृष्ण का सामना किया, मगर युद्ध में उसे प्राणों से हाथ धोने पड़े। रुक्मिणी के भाई रुक्म ने भी युद्ध किया, मगर रुमिणी ने भ्रातृप्रेम से प्रेरित होकर उसे छुड़वा दिया। इस प्रकार युद्ध में विजयी होकर वासुदेव और बलभद्र रुक्मिणी के साथ सानन्द द्वारिका पहुँचे।

आज कुछ प्रासंगिक चर्चा भी करनी है। आप जानते हैं कि धर्म धर्मात्माओं के सहारे ही चलता है। इसी लिए भगवान् ने धर्म की प्रवृत्ति करने के साथ ही साथ संघ की भी स्थापना की थी। सघ के लिए आज प्रायः 'समाज' शब्द का प्रयोग किया जाता है, यह निर्विवाद है कि संघ की उन्नति पर ही धर्म की उन्नति निर्भर है। अतएव पर्युषण पर्व के इस शुभ अवसर पर समाज हित की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

आपको विदित ही है कि शुले बाजार में सेठ छगनमलजी मूथा के बंगले में जैन छात्रालय चल रहा है। परन्तु अब कार्यकर्त्ताओं का विचार है कि वहीं संस्था के लिए निजी मकान खरीद लिया जाय ताकि संस्था को स्थायित्व प्राप्त हो सके। अभी तक सेठ छगनमलजी साहब की उदारता से संस्था चल रही है और चलाने की उनकी मनाई भी नहीं है, फिर भी कार्यकर्त्ताओं का विचार है कि संस्था की प्रतिष्ठा उसके निजी भवन में है। छात्रालय में रह कर बहुत से छात्र ज्ञान-सम्पादन कर रहे हैं। अतएव आप लोगों को उसकी ओर ध्यान देना चाहिए और जो भाई बाहर से दर्शनार्थ आए हैं, उन्हें भी संस्था की यथाशक्ति सहायता करनी चाहिए।

मेरे यहां आने के बाद आप लोगों ने परोपकार के अनेक कार्य किये हैं। चातुर्मास से पहले मैं यहां आया था और लगभग सभी बाजारों-मुहल्लों मे घूम चुका हूँ। यहां आकर मैंने थोड़ा बहुत काम अपनी आत्मा के लिए और कुछ समाज के लिए भी किया है। जिस बंगले के मैदान में, पंडाल के नीचे बैठकर मैं बोल रहा हूँ, उसे भी आपने इक्यावन सहस्त्र में अपने धर्मध्यान के लिए खरीदा है। इस लम्बे-चौड़े नगर मे आप अनेक सामाजिक कार्य कर रहे हैं। यहा गोशाला भी है, लड़कों और लड़कियों के लिए शालाएँ भी हैं, और भी कई संस्थाएँ हैं, जितनी संस्थाएँ हैं, वे सब आपकी उदारता से चल रही है और अपने विकास के लिए अधिक उदारता की अपेक्षा रखती हैं।

समाज या राष्ट्र की सभी संस्थाएँ धनवानों से ही विशेष आशा रखती हैं। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि जिसके पास

जो साधन होता है, उसी से वह दूसरों की सेवा-सहायता कर सकता है।

पर्युषण पर्व जैसे धार्मिक अवसर पर आत्माराधन किया जाता है और तपस्या भी की जाती है। जब शरीर के प्रति ममता कम होती है तभी तपस्या बन पड़ती है। तो शरीर के साथ २ धन से भी ममत्व उतारना चाहिए। जब धन के प्रति ममता छूटेगी तभी कुछ दिया जाएगा। तन और धन से ममता उतारना अपने को सुखी बनाने का सर्वोत्तम उपाय है। ज्यों ज्यों ममता में कमी आएगी त्यों त्यों निराकुलता बढेगी और ज्यों ज्यों निराकुलता बढेगी त्यों त्यों शान्ति और सुख की अभिवृद्धि होगी।

दान से इस भव में कीर्त्ति होती है और परभव में भी सुख की प्राप्ति होती है। दानदाता का यश सर्वत्र फैल जाता है। मगर कीर्त्ति के लिए दान देना उसके फल को तुच्छ बना लेना है। आपको अपना ममत्वभाव कम करने के लिए ही दान देना चाहिए। ऐसा करने से कीर्त्ति तो अनायास ही फैल जाती है। जो देता है, हजारों के सामने उसका नाम आ जाता है। अतएव इस अवसर पर आपको उदारता प्रदर्शित करना चाहिए। पर्व के अवसर पर न दिया जाय तो फिर कब दिया जाएगा ? आशा है आप इस ओर अवश्य लक्ष्य देंगे।

धर्म के चार भेद बतलाए हैं—दान, शील, तप और भावना। इन चारों में दान को प्रथम स्थान दिया गया है, क्योंकि दान से स्व और पर दोनों का कल्याण होता है। अतएव दान के महत्त्व को आप अच्छी तरह समझें और यथा शक्ति दें, यह आवश्यकता है।

एक दो अन्य प्रसगिक बातें भी आपके सामने रखनी हैं। आपको विदित ही है कि जब से हम यहां आये हैं, आप लोगों में काफी धर्म-जागृति आई है। साधु-वृत्ति में रहते हुए धर्मप्रचार करते और भारत के विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करते मुझे ३७ वर्ष हो चुके हैं। इस अन्तराल में मैंने दूर दूर तक भ्रमण किया है और छोटों से लेकर बड़ों तक, सभी प्रकार के लोगों के सम्पर्क मे आने के प्रसग उपस्थित हुए हैं। मेरे अन्तःकरण मे धर्म के प्रचार और अभ्युदय की गहरी लगन है और चाहता हूँ कि जन जन के जीवन मे धर्म का प्रवेश हो सके। यही भावना लेकर यहा भी आया हूं।

तो कहने का अभिप्राय है कि जब कभी किसी सन्त के विषय मे आपको कुछ सुनने को मिले तो उसकी जांच-पड़ताल करना चाहिए और वास्तविकता या अवास्तविकता का निर्णय कर लेना चाहिए। कभी कभी समाज या किसी व्यक्ति की ओर से कोई काम किया जाता है, मगर दूसरे लोग समझ लेते हैं कि महाराज इस कार्य मे सम्मिलित हैं।

मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैंने विगत ३७ वर्षों में कभी मन से फोटो नहीं खिचवाया है। कभी कोई कैमरा-वाला या फोटो आकर विना मेरी अनुमति के फोटो उतार ले तो मैं उसके लिए उत्तरदायी नहीं हूं।

आज स्थानक वासी परम्परा के साधुओं में लाउडस्पीकर पर बोलने अथवा न बोलने के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ बोलने के पक्ष में हैं और कुछ न बोलने के पक्ष में। खेद का

विषय है कि यह मतभेद उग्र बनता जा रहा है और फलस्वरूप साधुओं और श्रावकों में पारस्परिक संघर्ष बढ़ रहा है।

श्रमण संघ के सादड़ी, सोजत और भीनासर के अधिवेशनों में इस प्रश्न पर चर्चाएँ हुई हैं, पर अन्तिम रूप से प्रश्न हल नहीं हो सका है। फिर भी आचार्य, उपाचार्य और मन्त्रीमण्डल ने लाउडस्पीकर पर बोलने न बोलने के सम्बन्ध में एक अन्तरिम नियम बना दिया है। जहां तक मेरा प्रश्न है, मैंने कभी इस यन्त्र का प्रयोग नहीं किया है और न प्रयोग करने का समर्थन ही किया है।

कितने ही सामाजिक कार्य ऐसे हैं जो आप लोगों के करने के हैं। उनमें हमारा तनिक भी हाथ नहीं होता। फिर भी लोग साधुओं को उनमें भागीदार समझ लेते हैं अथवा भागीदार होने की बात फैला देते हैं।

मैंने वादिमानमर्दक नन्दलालजी म०, स्व० पूज्य श्री खूबचन्दजी म. जैनदिवाकर श्री चौथमलजी म. आदि-आदि सन्तों की सेवा की है। उनके साथ और पृथक् भी कई चौमासे किये हैं। जब मैं बंगाल में विचरण कर रहा था और अजीमगंज से कलकत्ता की ओर जा रहा था तब मेरे साथ एक ही भाई था। चलते हुए एक स्थल ऐसा आया कि आठ बजे से पहले वहां से हो कर कोई भी नहीं निकला था। जब हम वहां होकर गुजरे तो थानेदार ने रोक लिया। उसने हमें वहीं बैठ जाने का आदेश दिया और कहा—तुम यहां से नहीं जा सकते।

मैंने सोचा—खूब फँसे ! मगर विवश हो कर वहीं बैठ जाना पड़ा। करते भी क्या ! थोड़ी देर बैठे रहने के बाद पास से पानी लाकर मैं जगल चला गया और थानेदार ने दीप मुनि के पुट्ठे में से एक एक कागज सभाला। उसे सदेह था कि हम पाकिस्तान से आए हैं और वहां के जासुस हैं।

दीप मुनि के पास कुछ फोटो थे थानेदार ने उन्हें बड़े गौर से देखा। उनमें एक फोटो राज्यपाल से बातचीत करते समय का भी था। उसे देख कर थानेदार को तसल्ली हुई कि हम जासूस नहीं हैं। तब उसने कहा—मुझे पत्ता नहीं था, इसी कारण आपको रोका। अब आप खुशी से जा सकते हैं। आपको परेशान करने के लिए नहीं अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए ही मैंने आपको रोका था। आप क्षमा करें। इससे पहले मैंने ऐसे साधु नहीं देखे थे।

तो इस प्रकार के प्रसंगों पर फोटो दिखा कर भी कभी कभी अपना बचाव करना पड़ता है। पैदल भ्रमण मे, और विशेपतया ऐसे प्रदेशों में जहां साधारणतया साधुओं का आवा-गमन नहीं होता, कितनी और कैसी कैसी परेशानियां एवं कठिनाइयां भुगतनी पड़ती है यह बात रेलों, मोटरों और हवाई जहाजों से यात्रा करने वाले नहीं समझ सकते। यह तो भुक्त-भोगी ही जानते हैं।

हां, तो मेरा कहना यही है कदाचित आपके कानों में कोई बात आवे और उसका सम्बन्ध हमसे हो तो उचित होगा कि आप पहले हमसे कहें और स्पष्टी-करण मागे। यही प्रमाणि-कता की माग है और यह बात सभी के साथ लागू होती है।

आदर्श श्रावक किसी के भी सम्बन्ध में कोई अपुष्ट और निराधार निन्दाजनक बात नहीं फैलाता। आप इस बात का ध्यान रखगे तो आपका ही कल्याण होगा। हम साधुओं के लिए तो भगवान् पहले ही कह गये हैं।

समो निंदा-पसंसासु ।

मान-अपमान और निंदा-प्रशसा हमारे लिए समानहै।

हम अपने कर्त्तव्य का पालन करें और आप अपने कर्त्तव्य का पालन करें, इसी में आत्मा और सघ का श्रेय है। ऐसा करेंगे तो आपका कल्याण होगा।

४-६-५६
बैंगलोर केन्टोमेन्ट



भक्ति-माहात्म्य

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र ! गुणैर्निबद्धाम्,
भक्त्या मया रुचिरवर्ण विचित्रपुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,
तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥

卐卐

भाइयो ! श्रीमानतुङ्गाचार्य ने लोहमय बन्धनों से बद्ध अपने शरीर को बन्धन विहीन करने के लिए भक्तामरस्तोत्र की रचना की। उसके ४८ वें श्लोक मे स्तोत्रपाठ का फल प्रकट करते हुए आचार्य कहते हैं—

हे जिनेन्द्र ! आपका यह स्तोत्र एक माला के समान है। माला गुण अर्थात् सूत से बनाई जाती है और यह स्तोत्र भी आपके गुणों से बना है। माला मे सुन्दर रंग-बिरंगे पुष्प होते हैं तो इस स्तोत्र में भी मनोहर वर्ण अर्थात् अक्षर रूप पुष्प गुंथे हैं। पुष्पमाला को जो कण्ठ में धारण करता है, उसे लक्ष्मी अर्थात् शोभा की प्राप्ति होती है और जो इस स्तोत्र रूपी माला

को कण्ठस्थ करता है, उस सम्मानित पुरुष को विवश होकर स्वर्ग-मोक्ष रूपी लक्ष्मी स्वतः प्राप्त करती है। यह स्तोत्र मैंने अपना कवित्व-कौशल प्रदर्शित करने के लिए नहीं, वरन् भक्ति से प्रेरित हो कर निर्मित किया है।

भक्तामरस्तोत्र एक महामहिम स्तोत्र है, यद्यपि यह भगवान् ऋषभदेव को लक्ष्य करके बनाया गया है, तथापि इसमें वर्णित भाव सभी तीर्थङ्करों पर समान रूप से लागू होते हैं। क्योंकि यद्यपि आत्माएँ सब की पृथक् पृथक् हैं, तथापि उन सब में गुणस्वभाव की समानता है। सब आत्माओं का मूल स्वभाव समान है, अतएव जब आत्माएँ अपने गुणों को विशुद्ध करके परमात्मभाव को प्राप्त होती है तो उनके गुणों में पूर्णरूपेण सदृशता होती है।

प्रस्तुत स्तोत्र अत्यन्त भावपूर्ण, प्रसाद गुण से युक्त, और हृदय को आनन्दित करने वाला है। उसमें अनूठे भाव और ललित भाषा है। पढ़ते-पढ़ते हृदय भक्ति की मदाकिनी में डुबकियां लगाने लगता है।

वास्तव में जो मनुष्य इस स्तोत्र को पढ़ता या सुनता है और उसके मर्म को समझता है, उसे अनेक प्रकार के लाभ की प्राप्ति होती है। कदाचित् लक्ष्मी रूठ गई हो और आना न चाहती हो तो भी इस स्तोत्र के पाठ से उसे लाचार होकर आना ही पड़ता है। जहां भगवान् आ जाएँगे वहां लक्ष्मी अपने आप आकर पैर दवाएगी। लक्ष्मी दो प्रकार की है द्रव्यलक्ष्मी और भावलक्ष्मी। जहां सत्य भगवान् आ गए, वहां दोनों प्रकार की लक्ष्मियां आ जाती हैं।

मगर जगत् के जीवों की समझ कुछ निराली है। वे इस तथ्य को नहीं समझते कि लक्ष्मी भगवान् की अनुचरी है। अतः एव वे भगवान् को दूर रखना चाहते हैं और लक्ष्मी को प्राप्त करना चाहते हैं। मगर भगवान् के बिना भगवती कहां ठहरने वाली है? अतएव जो लक्ष्मी को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें भगवान् की उपासना करना चाहिए। ऐसा करने से लक्ष्मी की उपासना की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। वह तो अपने आप चली आएगी। कदाचित् वह लक्ष्मी को न चाहेगा तो भी वह उसके गले पड़ेगी।

वस्तुतः परमात्मा की विशुद्ध एवं निर्मल भाव से उपासना करने से अशुभ कर्मों का विनाश होता है और पापों का प्रक्षय होता है। और जब ऐसी स्थिति होती है तो संसार की उत्तम वस्तुएँ अनायास ही प्राप्त होने लगती हैं। इसके विपरीत, पापकर्म का उदय होने पर कोई कितना ही पुरुषार्थ क्यों न करे। सुख-सामग्री प्राप्त नहीं होती। अतएव पुण्य को प्रबल बनाने और पाप का क्षय करने के लिए परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना चाहिए।

तो यही बात अन्तकृतसूत्र के छठे वर्ग में बतलाई गई है। छठे वर्ग में सोलह अध्ययन हैं। उनमें से आपके सामने मकाई सेठ तथा अर्जुन माली वगैरह का जिक्र किया गया है।

अर्जुन माली के सम्बन्ध में कुछ विशेष प्रकाश डालना चाहता हूँ। अर्जुन उसका नाम था और मालाकार उसकी जाति थी। वह प्रतिदिन अपनी वाटिका से फूल तोड़ कर और उन्हें बेच कर आजीविका चलाता था।

एक वार छह गोष्ठिक पुरुषों ने उसकी पत्नी की सुन्दरता पर व्यामुग्ध होकर, यक्ष के मन्दिर में, उसके साथ बलात्कार किया। बात इस प्रकार हुई। माली और उसकी पत्नी वाटिका में पुष्प तोड़ने गये थे। गोष्ठिक पुरुषों को पता चला तो वे भी वहां पहुँच गये और यक्षायतन में छिप गये। पुष्पचयन करने के पश्चात् दोनों मन्दिर में गये तो छिपे हुए उन गुण्डों ने अर्जुन को पकड़ कर बांध दिया और उसकी पत्नी के साथ दुष्कर्म किया।

अर्जुन मन ही मन बुरी तरह जल रहा था, मगर बँधा हुआ होने के कारण विवश था। कुछ प्रतीकार नहीं कर सकता था। इस विवशता की स्थिति में उसने अपने इष्टदेव का (मुद्गर-पाणी यक्ष) का स्मरण किया और सोचा—अरे, यह मेरा कुलदेव है और मैं इसकी बराबर भक्ति करता आ रहा हूँ। किन्तु इसके सामने ही मेरे ऊपर घोर अत्याचार हो रहा है और यह जरा भी सहायता या प्रतीकार नहीं करता। अगर इस मूर्त्ति में देव होता तो इसके सामने यह पापाचार कदापि न होता। तो यह केवल काठ की मूर्त्ति ही है।

अर्जुन माली का हृदय गहरी वेदना से व्याप्त होकर कराह रहा था। उसके अत्यन्त पीड़ित चित्त से जो शब्द निकले, देवता ने उन्हें सुन लिया।

प्रतिष्ठा का विचार सभी को होता है, फिर चाहे वह देव हो या मनुष्य हो। अगर आप बच्चे को उसकी इच्छा के विपरीत गोद से उतार दें तो वह भी मानभंग होने के कारण रोने लगता है और चाहता है कि उसके मान की मरम्मत हो अर्थात्

उसे फिर गोद में ले लिया जाय। और जब उसे पुनः गोद में उठा लिया जाता है तो प्रसन्न हो जाता है।

तो संसार में रहने वाले जितने भी छोटे-मोटे प्राणी हैं, उनमें से किसी के भी दिल में यह भावना नहीं होती कि मेरी अप्रतिष्ठा या बेइज्जती हो। सभी अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं। मगर प्रतिष्ठा तभी कायम रहती है जब मनुष्य निन्दनीय कामों से दूर रहे और दूसरे के दुःख दर्द में काम आवे।

यों वह यक्ष भी अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए अर्जुन माली के शरीर में प्रविष्ट हो गया। देवता के प्रवेश करते ही अर्जुन के शरीर में अपार बल का संचार हुआ। उसने उसी समय अपने शरीर के मजबूत बन्धन तड़ातड़ तोड़ डाले और पास ही रक्खे हुए एक हजार पल भार के मुद्गर को अपने हाथों में उठा लिया मुद्गर हाथ में आते ही अर्जुन ने, उसी जगह, उन छहों गुण्डों को और साथ ही अपनी पत्नी को मार गिराया। मगर इतने से ही उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसका रोष बढ़ता ही गया।

जब मनुष्य के मन में तीव्र क्रोध की अग्नि भड़क उठती है तो उसमें एक प्रकार का पागलपन छा जाता है। क्रोध की स्थिति में मनुष्य पागल के समान ही बिना सोचे विचारे अनुचित चेष्टाएँ करता है। अर्जुन के मन मे बदला लेने की भावना उत्पन्न हुई थी और बदला लेने के बाद भी वह शान्त नहीं हुई। आग का स्वभाव ही यह है कि जैसे-जैसे उसे खुराक मिलती है, वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। अर्जुन के मन की आग

भी सात मनुष्यों की हत्या से बुझी नहीं, वरन् अधिक भड़क उठी। इस कारण वह वहां से निकला और हाथ में मुद्गर लेकर घूमने लगा। प्रतिदिन छह पुरुषों की और एक स्त्री की हत्या करने लगा। उसका वह दैनिक कृत्य छह मास तक चलता रहा।

अर्जुन माली के इस भीषण रूप के विषय में सुनकर राजगृह के राजा श्रेणिक ने भी नगर मे यह घोषणा करवा दी कि कोई भी स्त्री या पुरुष नगर से बाहर न निकले। अगर कोई आज्ञा का उल्लंघन करके नगर से बाहर जाएगा और अर्जुन माली के हाथ से मारा जायगा तो उसकी जिम्मेवारी राजा पर न होगी। भाई यहां कौन ऐसा मनुष्य है जो मौत के मुख में जान-बूझ कर जाने को तैयार होगा?

तो लगातार छह माह तक यह भयावह स्थिति बनी रही। छह माह बीत जाने के पश्चात् नगरनिवासियों के प्रबल पुण्योदय से श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ। वे पधारे और नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरे, नगर-निवासियों को भगवान् के पदार्पण की सूचना मिली तो उन्हें अपार हर्ष हुआ, मगर खेद यह रहा कि अर्जुन के उपद्रव के कारण वे उपासना के लिए नहीं जा सकते थे और अपने जीवन को तथा नेत्रों को सफल नहीं कर सकते थे। स्थिति ऐसी थी कि मौत का सामना किये बिना प्रभु के दर्शन करना संभव नहीं था और सबमें इतना साहस नहीं था।

यह शुभ समाचार सुदर्शन सेठ ने भी सुना, उसने विचार किया—बड़े भाग्य से मेरे धर्माचार्य भगवान् महावीर का पदार्पण

हुआ है तो अवश्य ही उनके दर्शन करना चाहिए। इस प्रकार निश्चय करके सुदर्शन अपने माता-पिता के पास पहुंचे और भगवान् की उपासना के अर्थ जाने की आज्ञा मांगी। माता-पिता ने अपने प्राणप्रिय पुत्र को समझाया कि—वत्स! भगवान् को यहीं से श्रद्धापूर्वक वन्दना—नमस्कार कर लो। भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। उनके लिए निकटता और दूरी में कोई अन्तर नहीं है। वे सब जानते-देखते हैं। यहीं से तुम्हारी वन्दना स्वीकार कर लेंगे।

मगर जिसके हृदय पर भक्ति का पक्का रंग चढ़ जाता है, वह किसी के कितने ही समझाने पर भी नहीं उतर सकता। अतएव सुदर्शन ने माता-पिता से निवेदन किया—पूज्य माता-पिता! यह तो निश्चित ही है कि जिसने जन्म धारण किया है, उसे एक न एक दिन अवश्य ही मरना होगा। तो फिर मृत्यु की इतनी अधिक चिन्ता करने और उससे डरने की क्या आवश्यकता है! मैं भगवान् के दर्शनार्थ जा रहा हूँ। यदि अर्जुन माली के हाथ से मारा भी गया तो इस प्रकार मर जाने का मुझे तनिक भी खेद न होगा। अतएव मैंने भगवान् के दर्शनार्थ जाने का अन्तिम निर्णय कर लिया है।

आखिर वह भगवान् का सच्चा और निर्भीक भक्त अटूट श्रद्धा लिये प्रभु के दर्शन के लिए घर से निकल पड़ा और वीरता-पूर्वक शेर की तरह आगे बढ़ने लगा। रास्ते में बहुत लोगों ने उसे देखा, टोका न जाने का अनुरोध किया और कइयों ने उपहास भी किया, मगर अपनी धुन में मस्त सुदर्शन प्रभु का चिन्तन करता हुआ चलता ही गया। नगर को पार करके वह बाहर निकला। अचानक अर्जुन माली की दृष्टि उस पर पड़ी और

सामने शिकार देखकर क्रोध में पागल बना हुआ वह सुदर्शन की ओर लपका।

सुदर्शन ने भी मूर्त्तिमान काल के समान अर्जुन को अपनी ओर आते देखा, परन्तु उसके अन्तःकरण मे लेश मात्र भी भय का सचार न हुआ। वह क्षमा की मूर्त्ति बनकर उसी समय सागारी सथारा धारण करके और भूमि का प्रतिलेखन करके ध्यानमग्न होकर खड़ा हो गया।

अर्जुन माली इस विलक्षण धैर्यवान् पुरुष को देखकर कुछ अप्रतिम-सा हुआ, फिर भी उसने सोच विचार करना और दया दिखलाना उचित न समझा। अपना भारी मुद्गर ऊपर उठाया और पूरे जोर के साथ सुदर्शन पर प्रहार करना चाहा। परन्तु उसका मुद्गर नीचे नहीं आ सका। उसकी दोनों भुजाएं स्तब्ध रह गईं और मुद्गर ज्यों का त्यों उभारा रह गया। सुदर्शन की आत्मिक शक्ति के सामने राक्षसी शक्ति कुण्ठित हो गई। अपनी शक्ति को कारगर न होती देख अर्जुन माली चकित रह गया। बहुत देर तक टकटकी लगाकर सुदर्शन को निहारता रह गया।

सेठ सुदर्शन के जीवन में उत्कट क्षमा, शान्ति और अहिंसा की भावना थी और आसुरी शक्ति उसके सामने टिक न सकी—पराजित हो गई। दुनिया के लोग भौतिक शक्ति पर बड़ा भरोसा करते हैं, मगर आध्यात्मिक शक्ति की तुलना में वह अकिंचित्कर ही ठहरती है। आत्मा की शक्ति अपरिमित है, भौतिक शक्ति परिमित है। आत्मिक शक्ति अपनी है, उसके लिए

परावलम्बन की आवश्यकता नहीं होती; मगर भौतिक शक्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। वास्तव में आध्यात्मिक शक्ति इस संसार में सर्वोपरि है और उसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती।

सुदर्शन की आध्यात्मिक शक्ति ने अर्जुन माली में स्थित आसुरी शक्ति को निकाल बाहर किया। जब आसुरी शक्ति निकल गई तो अर्जुन अशक्त हो जाने के कारण धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ा और मूर्छित हो गया।

थोड़ी देर में होश में आने पर उसने पूछा—आप कौन हैं और कहां जा रहे हैं ?

सुदर्शन—मैं भगवान् का भक्त हूं। सुदर्शन मेरा नाम है और भगवान् के दर्शनार्थ जा रहा हूं।

अर्जुन—क्या मैं भी आपके साथ चल सकता हूँ ?

सुदर्शन-अवश्य। भगवान् अशरणशरण हैं, पतितपावन हैं। बिगड़ी को बनाने वाले हैं। परमकरुणा के सागर हैं। उनके चरणकमलों में प्राणीमात्र को स्थान है।

अर्जुन तैयार हो गया। सुदर्शन उसे साथ लेकर भगवान् के समवसरण में पहुँचे। भगवान् की शान्तिदायनी और वैराग्य से सनी हुई वाणी सुन कर अर्जुन को बोध प्राप्त हुआ और उसी समय उत्कृष्ट भाव से दीक्षित हो गया।

अर्जुन माली अब मुनि था। उसने दीक्षित होते ही तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया और बेले-बेले की तपस्या करने

लगा। पारणा के दिन जब नगर में जाता तो अनेक स्त्री-पुरुष उसे पहचान कर और यह कह कर कि इसने मेरे अमुक सम्बन्धी की हत्या की थी, उसका अपमान करते। कोई कहता—इसने मेरे पिता की हत्या की है। कोई कहता–यह मेरे भाई का हत्यारा है। कोई कहता–अरे यही वह पिशाच है जिसने मेरी पत्नी का वध किया था। इत्यादि कह कर लोग उसे कोई तमाचा मारता, कोई पत्थर मारते और कोई लाठी से पीटते। कई लोग अपशब्दों और गालियों की बौछार करते, उसकी भर्त्सना करते और अपने द्वेषभाव को शान्त करने का प्रयत्न करते। अर्जुन मुनि जिस ओर भी जाते, वहीं उन्हें इस प्रकार के उपसर्ग सहन करने पड़ते।

किन्तु उस समय अर्जुन मुनि के मन में क्या था? शुद्ध क्षमाभाव की गंगा बहती थी। अपने अपमान, तिरस्कार से और मारपीट सहन करके भी उनके चित्त में लेशमात्र भी क्रोध या द्वेष उत्पन्न नहीं होता था। वह विचार करते–मैंने इनका घोर अनिष्ट किया है, इनके निरपराध स्वजन के प्राणों का घात किया है, और फिर भी यह मेरा घात नहीं करते। यह इनकी बड़ी उदारता है कि मुझे अपशब्द कह कर अथवा थोड़ा सा मार-पीट कर ही छोड़ देते हैं। मैं इनका अपराधी हूँ। मुझ पर इन सब का महान् ऋण है। वह ऋण मुझे चुकाना है और चुकाना ही चाहिए। यह लोग थोड़ा सा दुर्व्यवहार करके ही मेरे घोर पाप का बदला ले रहे हैं।

इस प्रकार अर्जुन मुनि क्षमाशील बन कर, सब की ताड़ना-तर्जना सहन करते हुए निरन्तर तपस्या में ही अपना समय व्यतीत करने लगे। परिणामों की धारा को विशुद्ध से

विशुद्धतर बनाते हुए छह मास में ही उन्होंने समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लिया।

भाइयो ! क्षमाशीलता से आत्मा का किस प्रकार अभ्युदय होता है, यह बात आप अर्जुन माली के इस उदाहरण से समझ सकते हैं। अर्जुन की पतित आत्मा क्षमा के जल से धुल कर एकदम स्वच्छ हो गई और पूर्ण रूप से निर्मल बन गई और सदा के लिए परमशान्ति को प्राप्त हुई।

क्षमाशीलता का एक और उदाहरण आपके सामने रखने जा रहा हूं। बंगाल देश में स्वामी गोपीचन्द हो गये हैं। वे समय पाकर गुरु गोरखनाथ के शिष्य बन गये।

एक बार गुरु गोरखनाथ भी घूमते-घामते बंगाल में पहुँचे गए। जब वे राजधानी मे पहुँचे तो गोपीचन्द के पिता परलोक सिधार चुके थे और बारह वर्षीय बालक गोपीचन्द उनके उत्तराधिकारी की हैसियत से सिंहासन पर आसीन कर दिये गये थे। गोपीचन्द की माता मौजूद थी, परन्तु वह वैरागिन का जीवन व्यतीत कर रही थी और अपने इकलौते पुत्र को सदैव कहा करती थी—बेटा, यह राज्य तुझे नरक में ले जाने वाला है। यह वह दलदल है जिसमें फँसने के बाद उद्धार होना कठिन है।

माता की वैराग्यभरी बात गोपीचन्द के मन में समा गई और छोटी-सी उम्र मे ही वह राजभवन को तिलांजलि देकर निकल पडा और गुरु गोरखनाथ का शिष्य बन गया। वह गुरु के साथ संन्यासी के रूप में बहुत दिनो तक घूमता रहा।

एक दिन गोरखनाथ ने अपने शिष्य गोपीचन्द की परीक्षा लेने की दृष्टि से कहा—शिष्य, मैं तुम्हारी परीक्षा लेना चाहता हूँ और तुम्हारी परीक्षा वहीं हो सकती है जहां तुम्हारी बहिन का विवाह हुआ है। तुम जाओ और अपनी बहिन के घर से भिक्षा लेकर आओ।

गोपीचन्द गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके योगी के अपने वेष में बहिन के यहां पहुँचा। उसने राजमहल के निकट ही अपनी धूनी लगाई। भिक्षा का समय हुआ तो सीधा राजमहल में पहुँचा और भिक्षा की याचना करने लगा। उस समय वहां दासियां मौजूद थीं। उन दासियों में एक वह दासी भी थी जो उसकी बहिन के साथ आई थी। उसने गोपीचन्द को गौर से देखा। बचपन में उसने उसे देखा था, अतएव वह पहचान गई कि—अरे, यह तो बाई साहबा के भाई साहब हैं। मगर उसकी समझ में नहीं आया कि यह राजा के वेष में न आकर योगी के वेष में क्यों आए हैं ? इन्होंने यह वेष कैसे धारण कर लिया है ?

दासी बाईजी के पास गई और बोली—आपके यहां आपके भाई साहब भिक्षा मांगने के लिए आए हैं।

दासी के मुँह से अपने भाई के सम्बन्ध में इस प्रकार की अटपटी-सी बात सुनकर उसने कहा—पगली तो नहीं हो गई ? तेरी बात बिल्कुल झूठ है। मेरा भाई बंगाल का राजा है। वह यहां योगी का वेष बनाकर और मेरे द्वार पर भिक्षा मांगने के लिए कदापि नहीं आ सकता। कोई मिलती जुलती सूरत का दूसरा साधु होगा।

दासी ने कहा—नहीं मैं गलत नहीं कह रही हूं। मैंने अच्छी तरह देखकर उन्हें पहचान लिया है। वह संन्यासी के वेष में आपके भाई गोपीचन्द ही हैं। अगर मेरी बात पर भरोसा नहीं है तो स्वयं चलकर आप देख लीजिए। झूठ कहने से मुझे क्या लाभ ?

दासी की बात सुनकर वह तुरन्त उसके साथ वहां आई जहां योगी गोपीचन्द खड़े थे। देखते ही बहिन अपने भाई को पहचान गई—अरे सचमुच यह तो मेरा भाई ही है, जो योगी के वेष में भिक्षा के लिए आया है।

अपने राजकुमार भाई को इस स्थिति में देखकर वह एकदम लज्जित हो उठी। उसकी समझ में नहीं आया कि बात क्या हुई ? भाई को साधु बनने की क्या आवश्यकता पड़ गई ? तब उसने भाई से कहा—

(तर्ज—ख्याल)

प्रश्न—कहां ते लीनी सिंगी रे सेली, कठे फड़ाया कान।
बारह वर्ष की उम्मर तेरी, तू लड़का नादान ॥ १ ॥
गोपीचन्द वीरा ! जोगी हुओरे किणके कारणे ॥ टेक ॥

उत्तर—जन्म दियो मेणावतीस में, कैसे लोपूं कार।
मूंड़ मुंडाया महल मेंस म्हाने, कियो गुरु की लार ॥ २ ॥
सुण बहिन स्याणी, भिक्षा घालेनी ऊभो बारणे ॥ टेक ॥

गोपीचन्द की बहिन उसके निकट आई। उसने देखते ही उसे पहचान लिया। वह विस्मय में पड़ गई कि इस छोटी-सी

उम्र में ही यह साधु क्यों बन गया ? भाई को साधु के वेष में देखकर उसे तेजी आ गई और वह तुनुक कर बोली—अरे तूने यह सींगड़ा कहां से ले लिया है ? और यह कान कहां फड़वा लिये हैं ? तेरी उम्र तो अभी बारह वर्ष की है। तू नादान है, इस योग में क्या समझे।

गोपीचन्द ने उत्तर में कहा—सुनो बहिन ! मुझे मेणावती ने जन्म दिया है और उन्होंने ही मुझे आदेश दिया कि—बेटा, तू साधु बन जा। मैंने महल में ही शिरोमुण्डन करा लिया और इस प्रकार माता ने ही मुझे गुरु गोरखनाथ के साथ कर दिया है। मैं उनकी आज्ञा का उल्लघन नहीं कर सकता था।

भाई का यह उत्तर सुना तो उसे अपनी माता पर क्रोध आया। क्रोध में आकर वह बोली—

मरज्यो मां मेणावती सरे, तुझे बतायो ज्ञान।
दूजो मरज्यो सतगुरु थारो, फाड्या छुरी से कान॥
गोपीचन्द वीरा० ॥ ३ ॥

अर्थात्—तुझे ऐसी बुद्धि देते समय माता को मौत क्यों नहीं आ गई ? और मर जाय वह तेरा गुरु जिसने निर्दय होकर छुरी से तेरे कान फाड़ दिये।

तब गोपीचन्द ने शान्त भाव से कहा—बहिन, मेरी बात सुनो और शान्ति से समझो—

कान फड़ाया मुद्रा डाली, कीना भगवा भेष।
माता गुरु में दोष नहीं, म्हारा लिख्या विधातालेख ॥
सुख-महिन स्याणी ॥ ४ ॥

भाइयों ! गोपीचन्द के स्थान पर दूसरा कोई होता तो उसे क्रोध आए बिना न रहता। पर उसने विनीतभाव से कहा—बहिन, मेरी बात सुनो। इसमें माता का या गुरुजी का कुछ भी दोष नहीं है। मैंने भगवा वेष धारण किया है और कान फड़वाए हैं, सो विधाता का विधान है। विधाता का लेख मिट नहीं सकता। उनके लेख के कारण मैं साधु बना हूँ।

भाई के मुख से विधाता के लेख की बात सुन कर बहिन का क्रोध उपशान्त होने के बदले और अधिक भड़का। वह रोषःपूर्ण शब्दों में कहने लगी—

क्या विधाता लिख गई सरे, संगति का उपदेश।
राज बंगाला सभी डुबोया, कीना भगवां भेष॥
गोपीचन्द बीरा० ॥ ५ ॥

वह लाल-लाल आंखें करके कहने लगी—भाई, क्या विधाता ने सब कुछ तेरे ही भाग्य में लिख दिया है। तूने इस छोटी सी उम्र मे सम्पूर्ण बंगाल के राज्य को ठोकर मार दी। अरे नादान, इस भगवा वेष में क्या पड़ा है? यह तो पुरुषार्थ से जो चुराने वाले निठल्ले लोगों का वेष है। इसमें क्या पड़ा है।

तब गोपीचन्द भगवा वेष की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—

भगवा मे भगवान है सरे, गुरु देवन का देव।
आप तिरे और मुझे तिरावे, करूँ उन्हीं की सेव॥
सुन बहिन सयानी० ॥ ६ ॥

गोपीचन्द बोले—बहिन ! यह वह भेष है जिसे धारण करने से भगवान् के दर्शन हो जाते हैं या परमात्मा के साक्षात्कार की प्रेरणा मिलती है।

भाइयो, यद्यपि वेष परमात्मप्राप्ति का एकान्त-साधन नहीं है, तथापि उससे अनेक लाभ होते हैं। प्रथम तो वेष से साधक का परिचय अनायास ही हो जाता है कि यह अमुक परम्परा या सम्प्रदाय का अनुयायी है; दूसरे साधु का वेष धारण करते ही मन पर उसका विशेष प्रभाव पड़ता है। वेष अनेक प्रकार की मानसिक दुर्बलताओं से साधक की रक्षा करता है। साधारण लोग किसी भी वेषधारी त्यागी से उच्च आचार-विचार की अपेक्षा रखते हैं और इस कारण उसके हीनाचार को सहन नहीं कर सकते। इससे भी साधक को अपने वेष की प्रतिष्ठा के लिए अकर्त्तव्य कर्म से बचने की सावधानी रखनी पड़ती है। इस प्रकार त्यागी का विशिष्ट वेष उसकी साधना में सहायक होता है।

तो गोपीचन्द कहने लगा—मैंने जो भगवां वेष धारण किया है, इससे मुझे भगवान् मिलने वाले हैं। यह वेष मेरे गुरु ने मुझे दिया है और वे गुरु स्वयं तिरने वाले तथा मुझको तारने वाले हैं।

यद्यपि गोपीचन्द अपनी छोटी-सी उम्र में भी अपनी बहिन को सच्चा ज्ञान दे रहा था और अपनी समझ के अनुसार तत्त्व की बात समझा रहा था, मगर उसकी बहिन की आंखों पर मोह का पर्दा पड़ चुका था। उसे उसकी कोई बात सुहाती नहीं थी, बल्कि कटुक प्रतीत हो रही थी। जब गोपीचन्द ने भगवां

भेष की और अपने गुरु की प्रशंसा की तो उसकी बहिन के दिमाग का पारा और भी ऊँचा चढ़ गया। क्रोध से तमतमा कर और भृकुटि चढ़ा कर उसने कहा:—

तेरे गुरु के आग लगाऊँ, दीनी उलटी सीख।
राज छोड़ कर भयो मसाणी, घर-घर मांगे भीख॥
गोपीचन्द वीरा० ॥७॥

अर्थात्—तेरे गुरु को आग लग जाए जिसने तुझे उलटी शिक्षा दी है। वह कितना मूर्ख है जिसने तुझे राज्य त्याग कर श्मशान में जाने का शौक लगा दिया है। हाय, कितने खेद की बात है कि जो राजा हजारों-लाखों का पालन करने वाला होता है, उसी को आज अपने शरीर को निभाने के लिए घर-घर जाकर भीख मांगनी पड़ती है। जीवन के इस अधःपतन की कोई सीमा है। जब तेरी शक्ति प्रजा की भलाई में और राज्य के अभ्युदय में लगनी चाहिए थी, तब तू अपने पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए दर-दर भटकता फिरता है।

तब गोपीचन्द बोला—
मांगू भीख वारने तेरे, दीनी गुरु ने गाल।
क्या धन दौलत माया मांगी, ठंडा टुकड़ा डाल॥
सुन बहिन सयानी० ॥८॥

भाइयो! जरा ध्यान दीजिए। छोटी-सी उम्र वाले और राजकुल में जन्मे हुए गोपीचन्द संन्यासी ने अत्यन्त कठोर शब्दों को सुनकर भी कितनी क्षमा रक्खी। वास्तव में उसकी अन्तरात्मा

वैराग्य के गहरे रंग में रंग चुकी थी। उसके दिल और दिमाग में क्षमा और शान्ति की शीतल सरिता प्रवाहित होती थी। क्रोध पर उसने अच्छी तरह अंकुश लगा रक्खा था। उत्तेजना के कारण उपस्थित होने पर भी वह उत्तेजित नहीं हुआ। यह धीर-वीर पुरुष का लक्षण है। कहा भी है—

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते,
येषां न चेतांसि न एव धीराः।

अर्थात्—विकार के कारण उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त में विकार की उत्पत्ति नहीं होती, वे ही वास्तव में धीर पुरुष कहलाते हैं।

गोपीचन्द ऐसे ही धीर पुरुषों में से था। अनेक कटु बातें सुनने पर भी उसके मन की शान्ति खण्डित नहीं हुई। उसने शान्तभाव में अपनी वहिन से कहा—बहिन, आज मैं अपने गुरुदेव की आज्ञा से तेरे द्वार पर भिक्षा लेने आया हूं। पर तूने मेरी मां को और मेरे गुरु को भी गाली दी, मगर बदले मैंने कोई कटु वचन नहीं कहा। मैंने तुमसे कोई धन-वैभव मांगा है, कोई बहुमूल्य वस्तु नहीं मांगी है, मैं सिर्फ रोटी एक टुकड़ा मांग रहा हूँ और वह भी ठंडा-वासी मांगता हूं। उ पाकर ही मैं सन्तोष कर लूँगा और तेरे द्वार से चला जाऊँगा। इच्छा हो तो दे सकती हो।

गोपीचन्द का यह शीतल वचन सुन कर बहिन का हृदय पसीज गया। वह चुपचाप भीतर गई और मोतियों का थाल भर कर ले आई और कहने लगी—लो भाई, इसे स्वीकार करो।

मगर गोपीचन्द को मोतियों की लालसा नहीं थी। उसने मोतियों से भरा थाल देख कर कहा—बहिन, मैं तो अन्न की भिक्षा के लिए आया हूं, मोतियों का क्या करूँगा। यह खाने के काम नहीं आएँगे। इनका तो मैं पहले ही परित्याग कर चुका हूं।

आखिर बहिन ने भाई को भक्ति और प्रीति के साथ अन्न की भिक्षा दी। गोपीचन्द वह भिक्षा लेकर अपने गुरु के निकट पहुंचे। गुरु ने उसके मुख से समग्र वृत्तान्त सुन कर सन्तोष व्यक्त किया और गोपीचन्द की इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने के कारण प्रशंसा की।

सो इस कथानक का निष्कर्ष क्या निकला? विरोधी व्यक्ति कितने ही कटुक शब्दों का प्रयोग क्यों न करे तथापि आत्म-साधना में निरन्तर साधक को क्षमाभाव का परित्याग नहीं करना चाहिए। जिसका क्षमाभाव कठिन से कठिन प्रसंग पर भी खंडित नहीं होता और जिसके चित्त में प्रशम का पावन पीयूष सतत प्रवाहित रहता है, वह साधक सदा विजयी होता है। विरोधी को उसके समक्ष नतमस्तक होना पड़ता है। वह अपने सद्भाव की रक्षा करता है और जगत् के सामने एक स्पृहणीय एवं उच्च-आदर्श उपस्थित करता है।

आप जानते हैं कि क्रोध से क्रोध भड़कता है। एक का क्रोध सामने वाले के क्रोध को भड़काने के लिए वही काम करता है जो आग भड़काने के लिए घृत की आहुति। क्षमा के आगे क्रोध को ईंधन नहीं मिलता और इसीलिए वह शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

तो अर्जुन माली ने और गोपीचन्द ने भी क्षमाभाव धारण किया। इनके जीवन के क्षमाप्रसंगों को सुन कर आपको भी अपने सम्बन्ध मे विचार करना चाहिए और यदि क्रोध की वृत्ति विद्यमान हो तो उसे निरस्त करने के लिए क्षमा को विशेष रूप से जागृत करने का यत्न करना चाहिए। याद रखिए कि क्षमा में अपूर्व शक्ति है एक कवि ने कहा है—

क्षमा शस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति॥

अर्थात्–जिसके हाथ में क्षमा रूपी खड्ग है, दुर्जन उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। जैसे पानी मे पड़ी आग स्वय ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार क्षमाशील पुरुष के समक्ष दुर्जन की दुर्जनता अनायास ही विनष्ट हो जाती है। ऐसा समझ कर आप क्षमाभाव धारण करेंगे तो आपका परम कल्याण होगा। क्षमायाचना का विशिष्ट अवसर सन्निकट आ रहा है। उस दिन अपने हृदय को पूरी तरह निःशल्य बनाइए और दूसरों को भी शान्ति पहुंचाइए।

५–६–५६
बैंगलोर केन्टोमेन्ट

प्रण-परिपालन

सिद्धाणं बुद्धाणं० ।

卐卐

भाइयों ! आज आपके सामने जैन साधु की चर्या के एक विशिष्ट अंग का परिदर्शन हो रहा है। मुनि श्री लाभचन्दजी प्रकट रूप में केशलुंचन की क्रिया कर रहे हैं। जैन भाइयों को भली-भांति विदित है कि जैन साधुओं के लिए केशलोंच की क्रिया अनिवार्य है। इसमें कोई साम्प्रदायिक अन्तर नहीं है। दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी आदि किसी भी सम्प्रदाय का साधु क्यों न हो, सबके लिए यही शास्त्रीय विधान है कि उसे हाथ से केशों का लुंचन करना-कराना चाहिए। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि केशलुंचन क्रिया सर्व साधारण के समक्ष ही की जाए, तथापि आज ऐसा ही आयोजन किया गया है। इसका उद्देश्य यह है कि जो लोग जैन साधु के आचार से अनभिज्ञ हैं, उन्हें विदित हो जाए कि जैन साधु कितना स्वावलम्बी, कितना कष्टसहिष्णु और कैसा क्रियावान् होता है। साथ ही यदि किसी के दिल में इस

प्रकार की आशंका हो कि साधु किसी दूसरे प्रकार के प्रयोग से केश दूर कर लेते होंगे, तो इस आशका को निमूंल करने में भी आज का यह समारोह सार्थक होगा।

प्रकृत समारोह का आयोजन स्थानीय संघ की ओर से किया गया है। आशा है आप केशलुंचन की क्रिया को देखकर शका का निवारण करते हुये कष्टसहिष्णु बनने का प्रयत्न करेंगे।

आपको मालूम होना चाहिए कि जब कोई वैरागी जैन मुनि बनता है तो उसके गुरु उसके सिर पर हाथ रखते हैं। हाथ रखकर वे उसे अपने सरक्षण में लेते हैं और उसके ज्ञान-चारित्र की वृद्धि का एक प्रकार से अपने ऊपर उत्तरदायित्व अंगीकार करते हैं। दीक्षा लेने वाला व्यक्ति दीक्षित होकर मुनि बन जाता है और फिर अपने सिर पर दूसरे का हाथ नहीं रखवाता। इसके लिए उसे एक वर्ष मे दो या तीन बार केशलोंच करना पड़ता है। साधु चाहे नवदीक्षित हो या चिरप्रव्रजित हो, अल्पवयस्क हो या वृद्ध हो, जिसने भी साधुपद अंगीकार किया है, सब का यह समान आचार है। शास्त्र इस सम्बन्ध में किसी को रियायत नहीं देता और न आत्मकल्याण के हेतु कष्टमय जीवनचर्या को स्वेच्छा से स्वीकार करने वाला साधु रियायत चाहता ही है। न केवल साधुओं के लिए ही, वरन् साध्वियों के लिए भी यही आचार विहित है और वे भी अपने हाथों से ही केशों का उत्पाटन करती हैं। श्रीमद् उत्तराध्ययनसूत्र मे केश-लुंचन का जिक्र किया गया है।

जिस समय सुग्रीव नगर के राजा बलभद्र के एकमात्र पुत्र मृगापुत्र ने राजमहल के झरोखे में बैठे हुए एक तपोधन-साधु की

मुखमुद्रा को देखा; वह टकटकी लगा कर देखता ही रह गया। देखते-देखते उसे विचार आया-मैंने पहले भी कभी साधु का ऐसा रूप देखा है। उसी समय उसके अन्तःकरण में शुभ अध्यवसाय उत्पन्न हुआ, उसकी लेश्या में विशुद्धि आई, ज्ञानावरण कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम हुआ और उसे जातिस्मरणज्ञान की प्राप्ति हो गई।

जब उसे अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो गया तो वह विचार करने लगा—जो कार्य मैं पूर्वजन्म मे अधूरा छोड़ कर आया हूँ, उसे इस जन्म में पूरा कर लेना चाहिए। मेरे मानवजन्म की प्राप्ति की यही सार्थकता है।

इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके वह अपने माता-पिता के पास गया और हाथ जोड़ कर उसने निवेदन किया—हे पूज्य माता पिता ! आप अनुग्रह करके मुझे संयम पालन करने की अनुमति दीजिए। मैं जैनसाधु की प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता हूँ।

अपने एकलौते पुत्र के मुख से अकस्मात साधु बनने की बात माता पिता को बहुत असगत और अटपटी मालूम हुई। उन्होंने उत्तर दिया—मृगापुत्र ! इस समय तुम्हारी उम्र संसार सम्बन्धी सुखों का उपभोग करने की है, साधु बनने की नहीं। इसके अतिरिक्त जैन साधु की चर्या भी अत्यन्त कठोर है।

भाई ! संसार में अपने आपको साधु कहने वाले और सर्वत्र अपनी साधुता की प्रसिद्धि करने वाले तो बहुत हैं, परन्तु

साधुता का पालन करने वाले स्वल्प ही मिलेंगे। तो वह बोले-जैन साधु का दुनिया से ३६ के अंक के समान सम्बन्ध होता है। साधु बन जाने के बाद दुनिया के साथ उसका कोई वास्ता नहीं रह जाता। जैन साधु मनसा वाचा कर्मणा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच महाव्रतों का पालक होता है। विश्व की किसी भी वस्तु पर उसका ममत्व शेष नहीं रह जाता। यहां तक कि अपने शरीर पर भी उसकी ममता नहीं रहती। इन महाव्रतों की रक्षा के लिए उसे जब चलना फिरना आवश्यक होता है तो बिना देखे-भाले चलना नहीं होता, बल्कि सामने की चार हाथ जमीन देख कर और जीव जन्तु को बचा कर ही वह चलता है। बिना विचारे बोलना नहीं होता। प्रथम तो उसे मौन ही धारण करना होता है। अगर बोलने का प्रयोजन हो तो हित, मित और पथ्य वचन ही बोलने पड़ते हैं। जीवन-निर्वाह के लिए निर्दोष भिक्षा द्वारा ही आवश्यक भोजन-पान आदि वस्तुएँ ग्रहण करनी होती हैं। साधु के पास जो भी उपकरण होते हैं, उन्हें वह यतना के साथ ही उठाता और रखता है। तात्पर्य यह है कि पांच महाव्रतों की रक्षा के लिए पांच समितियों का परिपालन करना पड़ता है। इन सब के अतिरिक्त जैन साधु को केशलुञ्चन भी करना पड़ता है।

केसलोओ य दारुणो

यह केशलोंच जैन साधु के लिए अनिवार्य है और बड़ा ही दारुण है।

अन्त में माता पिता ने कहा-बेटा, तू राजमहल में सुख पूर्वक जन्मा और बड़ा हुआ है। तेरा शरीर सुकोमल है। तूने

कभी दुःख और कष्ट की परछाई भी नहीं देखी, ऐसी स्थिति में तू किस प्रकार साधु की कठिन चर्या का निर्वाह कर सकेगा ?

माता-पिता के द्वारा प्रस्तुत कठिनाइयां सुनकर मृगापुत्र कहने लगा—हे माता-पिता ! जैन साधु के आचार के परिपालन में आपने जो कठिनाइयां बतलाई हैं, वे ठीक हो सकती हैं, परन्तु मेरे लिए नगण्य हैं। जब मनुष्य किसी शुभ अनुष्ठान के लिए कृतसंकल्प हो जाता है और दृढ़ता के साथ उसमें तल्लीन हो जाता है, तो कोई भी कठिनाई उसे पथच्युत नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त मेरी आत्मा अनेक बार नरक में हो आई है। नरक घोरतर दुःखों, व्यथाओं और पीड़ाओं का स्थान है। वहां चन्द्र और सूर्य का प्रकाश नहीं—गहनतर अंधकार व्याप्त रहता है। अग्नि तथा मणिरत्नों का भी प्रकाश वहां नहीं होता। वहां क्षेत्रादिजनित दस प्रकार की स्वाभाविक वेदना निरन्तर होती रहती है। तिस पर तीसरे नरक तक पन्द्रह प्रकार के परमाधामी देव वहां के नारकों को बुरी तरह सताते हैं। उन्हें नाना प्रकार की यातनाएँ देते हैं। शेष नरकों मे परमाधामी नहीं होते, मगर नारक जीव आपस में ही सदा लड़ते भिड़ते रहते हैं और मारकाट मचाते रहते हैं वहां के जीवों को कभी क्षण भर भी शान्ति नहीं मिलती। मेरी आत्मा भी, अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करती हुई अनेक बार नरकगति में गई है। जो मद्य मांस आदि असेव्य पदार्थों का सेवन करता है, महान् आरम्भ और महान् परिग्रह का संचय करके पापकर्म उपार्जन करता है, वह कर्मों के भार से भारी होकर अधोगति-नरक में जाता है। मेरी आत्मा वहां के दुःख देखकर आई है। जब इस आत्मा ने इच्छा न होने पर भी नरक के दुःख कई सागरोपम काल तक

सहन कर लिये तो उनके समस्त साधु-अवस्था के कष्ट किस गिनती में हैं ? साधुदशा के कष्ट इच्छापूर्वक सहन किये जाते हैं, अतः उनमें कुछ भी उग्रता नहीं होती। फिर वे नारकीय दुःखों के समान दीर्घकालीन भी नहीं होते, उनमें उतनी तीव्रता भी नहीं होती। यह सत्य है कि साधु को सर्दी-गर्मी का कष्ट सहन करना पड़ता है, मगर नरक की सर्दी-गर्मी की तुलना में वह कितनी-सी है ? इसी प्रकार भूख-प्यास के दुःख भी नारकीय दुःखों के सामने तुच्छ हैं। जिस आत्मा ने नरक के दुःखों को सहन कर लिया है, उसके लिए संयम-अवस्था के कष्ट तो महान् सुखरूप ही समझना चाहिए। वास्तव में वह सुखरूप ही हैं, क्योंकि भविष्य में सुख के कारण हैं। अतएव, हे माता पिता ! आप मेरी शक्ति पर विश्वास कीजिए, मैं दृढ़ता के साथ समस्त संकटों का सामना कर सकूंगा और शुद्ध संयम का पालन करके जीवन का सर्वोत्तम लाभ प्राप्त करूँगा। आप किसी प्रकार की हिचकिचाहट के बिना मुझे दीक्षा अंगीकार करने की अनुमति प्रदान कीजिए।

मृगापुत्र के मुख से इस प्रकार का दृढ़तासूचक उत्तर सुनकर उसके माता-पिता चकित रह गए। उन्होंने मन ही मन विचार किया—पुत्र वैराग्य के गाढ़े रंग में रंग गया है इसे संकल्प से विमुख करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु माता-पिता का हृदय अपनी सन्तान के लिए असीम वात्सल्य से परिपूर्ण होता है और वे उसके वियोग को सहन करना नहीं चाहते। अतएव मोह के वशीभूत होकर उन्होंने पुनः कहा—

प्रण यो वीरों का तू धार सके तो धार। टेक।
तन-धन प्रान यह तीनों ही, दे प्रण ऊपर वार ॥१॥

अर्थात्—हे पुत्र ! प्रण लेना या प्रतिज्ञा धारण कर लेना तो सरल है, मगर उसे सम्यक् प्रकार से निभाना कठिना होता है। प्रण के पीछे प्राण निछावर करने की तैयारी होने पर ही प्रण का भली-भांति पालन हो सकता है।

कई भाई-बहिन भावावेश में आकर साधु सध्वियों के समक्ष प्रतिज्ञा तो ले लेते हैं, परन्तु जब उसके पालन करने में थोड़ी-सी कठिनाई उपस्थित होती है या किसी प्रकार का प्रलोभन सामने होता है, तो अपने मन पर काबू नहीं कर पाते और प्रतिज्ञा को भग कर डालते हैं। परन्तु आपको जानना और याद रखना चाहिए कि प्रतिज्ञा लेने के साथ आप पर बड़ी जिम्मेवारी आ जाती है। अतएव प्रतिज्ञा ग्रहण करने से पूर्व ही अपनी शक्ति को पूर्ण रूप से तोल लेना चाहिए और यह निश्चय कर लेना चाहिए कि प्रतिज्ञा का भली-भांति पालन मुझसे हो सकेगा, तत्पश्चात् ही उसे अंगीकार करना चाहिए। पूर्ण विश्वास न हो तो अभ्यास के पश्चात् उसे प्रतिज्ञा रूप में स्वीकार करना चाहिए। उपदेशक का कर्त्तव्य उपदेश देना है और आपका पथ प्रदर्शित करना है, किन्तु आपको अपनी शक्ति के अनुसार ही उस पर अमल करना होगा। इसका आशय यह न समझ लीजिए कि अपनी शक्ति के अनुसार भी त्याग-नियम ग्रहण न किया जाय। शक्ति के अनुसार व्रत, नियम, प्रतिज्ञा आदि अवश्य ग्रहण करना चाहिए और ग्रहण करने के अनन्तर उस पर दृढ़ रहना चाहिए। कहा भी है—

जं सक्कइ तं कीरइ, जं च न सक्कइ तस्स सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावइ अजरामरं ठाणं॥

अर्थात्-जीवन की वर्त्तमान परिस्थितियों में जितना शक्य है, उतना आचरण करना चाहिए और जो शक्य न हो उस पर श्रद्धा रखनी चाहिए। श्रद्धावान् जीव भी क्रमशः अजर-अमर स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

प्रतिज्ञा कई विषयों के सम्बन्ध में ली जाती है। धर्म, कुटुम्ब, परिवार, समाज, जाति या राष्ट्र के हित के लिए किया जाने वाला कोई भी शुभ संकल्प प्रतिज्ञा के अन्तर्गत है। आत्मा के सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए भी प्रतिज्ञा ली जाती है। प्रतिज्ञा कोई भी क्यों न हो, उसके पीछे सुदृढ़ मनोबल अपेक्षित है। है। ऐसा होना उचित नहीं कि पहले प्रतिज्ञा ले ली और अवसर आने पर उसे धता बता दिया। किसी कवि ने कहा है—

रण में जो शस्त्र डाले, रहे ठकुराई न लगार। प्रण० २।

शूरवीर पुरुष अपने देश की रक्षा के लिए समरभूमि में जा कूदता है और अपने हाथ में तलवार ले लेता है तो दुश्मनों की सेना को चीरता-फाड़ता हुआ आगे ही आगे बढ़ता चला जाता है। वह पीछे पांव रखने का नीच विचार भी मन में नहीं आने देता। कदाचित् कोई योद्धा शत्रुसेना को देखकर डर जाय और हाथ से तलवार फेंक दे तो उसे विजयी बनने के बदले मौत का शिकार होना पड़ता है। वह अपनी प्रतिज्ञा से ही नहीं चूकता, वरन् जिंदगी से और कीर्त्ति से भी चूक जाता है।

कवि ने रघुवंश की परम्परा का उल्लेख करते हुए लिखा है-

प्राण जाएँ प्रण नहिं जाए, ये रघुकुलरीति विचार ॥ प्रण० ३॥

आपने कभी रामायण पढ़ी हो तो मालूम होगा कि रघुकुल में यही रीति प्रचलित थी कि प्राण भले चले जाएँ परन्तु प्रण नहीं जाना चाहिए।

सच्चा क्षत्रिय राजपूत वही कहलाता है जो अपने प्रण को प्राणों से भी अधिक महत्त्वशाली समझता है। एक बार महाराजा दशरथ समरभूमि मे गये। शत्रुओं का सामना होने पर उनके प्राण संकट में पड़ गए। उस समय उनकी रानी कैकेयी ने अपने पति रक्षा की और उनको जीवनदान मिला। उस समय दशरथ ने प्रसन्न होकर रानी से कहा—प्रिये! आज तुमने मेरे प्राणों की रक्षा की है, अतएव इस खुशी में मैं तुम्हें यथेष्ट वर मांगने की स्वतन्त्रता देता हूँ। तुम जो चाहो वही मांग सकती हो।

कैकेयी ने कहा—प्राणनाथ! मुझे कुछ भी आवश्यकता नहीं है। मैंने आपको पाया सो सभी कुछ पा लिया। आपसे बढ़ कर इस संसार में मुझे कोई भी वस्तु प्रिय नहीं है।

दशरथ बोले–तुम्हारा कथन आदर्श आर्य रमणी के अनुकूल ही है। तथापि कुछ न मांगने से मेरे हृदय की सन्तुष्टि नहीं होगी।

कैकेयी ने कहा—तो फिर इस वचन को श्रीभण्डार में सुरक्षित रहने दीजिए। जब कभी कुछ मांगने का प्रसंग आएगा, मांग लूँगी।

परन्तु कुछ काल व्यतीत होते ही कैकेयी को वचन मांगने का प्रसंग उपस्थित हो गया। घटना यों हुई—गुरु वशिष्ठ ने कौशल्या

के आत्मज रामचन्द्र के राज्याभिषेक का मुहूर्त्त निकाल दिया। सम्पूर्ण नगर और राज्य में रामजी की राजगद्दी के उपलक्ष्य में प्रसन्नता का वातावरण उत्पन्न हो गाया और सर्वत्र चहल-पहल मचने लगी। रामचन्द्र प्रजाजनों में अत्यन्त प्रिय थे, अतएव उनकी प्रसन्नता का पार नहीं था। सर्वत्र एक ही चर्चा थी कि कल राम राजा बन जाएँगे।

मगर कैकेयी की कुबड़ी दासी मन्थरा ने जब यह समाचार सुना तो वह जलकर खाक़ हो गई। उसने अपनी स्वामीभक्ति का परिचय देने के लिए अपनी मालकिन के पास जाकर और रो-धो कर कहना प्रारम्भ किया—महारानीजी! यद्यपि मैं आपकी दासी हूं और राज्य सम्बन्धी बातों से मुझे कोई सरोकार नहीं होना चाहिए, उनसे मेरा कोई हित-अहित भी होने वाला नहीं है, मगर कहे बिना रहा नहीं जाता। अन्याय इस हृदय को सहन नहीं हो रहा है। जान-बूझ कर जहर का घूंट कैसे निगल लूँ? फिर मेरे अहित की कोई बात होती तो मैं बर्दाश्त भी कर लेती; आपके अहित की बात मुझे बर्दाश्त नहीं होती।

इस प्रकार भूमिका बांधने के बाद मन्थरा ने कहा—महा. रानीजी, आपको मालूम है कि कल प्रातःकाल राम को राजसिंहा-सन पर आसीन कर दिया जाएगा और आपके पुत्र भरत को उनकी अधीनता में जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। यही नहीं, आपके बदले कौशल्याजी राजमाता के गौरवमय पद से विभूपित होंगी। अगर आपको यही सब पसंद है तो चुपचाप बैठी रहो। यदि अपना और अपने बेटे का भला चाहती हो तो समय रहते कुछ उपाय कर लो। मैंने तो आपकी दासी होने और हितैपिणी होने

के नाते आपको जता दिया है। इससे आगे की बात सोचना अथवा न सोचना आपकी इच्छा की बात है।

यद्यपि दशरथ के परिवार में प्रगाढ़ सौमनस्य था, रानियों में और उनके पुत्रों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था, बल्कि गहरी प्रीति थी, तथापि मन्थरा की बात सुन कर कैकेयी गड़बड़ा गई। उसकी आंखों के आगे मोह और स्वार्थ का पर्दा पड़ गया। यद्यपि वह जानती थी कि राम ज्येष्ठ राजकुमार होने के कारण राज्य के उत्तराधिकारी हैं, सभी दृष्टियों से राजा बनने योग्य हैं, प्रजाप्रिय हैं, तथापि भरत को राजसिंहासन पर आसीन देखने के लिए उसका हृदय मचल उठा। उसने एकान्त में बैठ कर विचार किया कि यह अनहोनी बात होनी में किस प्रकार बदली जा सकती है? विचार करते-करते उसे दशरथ का दिया वह वचन स्मरण आ गया। डूबते को तिनके का आश्रय मिला। उसने सोचा-यदि इस अवसर पर मैं महाराज को उस वचन की याद दिलाकर भरत के लिए राज्य और रामचन्द्र के लिए चौदह वर्ष का वनवास मांग लूं तो यह असमभव-सी प्रतीत होने वाली बात भी संभव हो सकती है।

कैकेयी इस प्रकार विचार कर साहसपूर्वक महाराज दशरथ के निकट पहुँची और हाथ जोड़ कर बड़े ही नम्र शब्दों में कहने लगी—प्राणनाथ! स्मरण होगा आपको कि आपके द्वारा दिया हुआ वचन श्रीभण्डार में सुरक्षित है। आज मैं उसे चाहती हूं। क्या आप उसे देने के लिए तैयार हैं?

कैकेयी के मुख से अपने दिये हुए वचन की बात सुन कर महाराज दशरथ कहने लगे—प्रिये! उस दिन की घटना मुझे

याद है। युद्ध में तुम्हारा साहसपूर्ण सहयोग सदा अविस्मरणीय है। तुम जो कुछ भी चाहो, मांग लो। उससे मुकरने का प्रश्न ही प्रस्तुत नहीं है, क्योंकि—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाएँ पर वचन न जाई॥

—तुलसीकृत रामायण।

तो दशरथजी ने कहा—महारानी, मुझे रघु के प्रख्यात कुल में जन्म लेने का गौरव प्राप्त हुआ है। इस कुल की यह परम्परागत रीति है कि प्राण जाएँ तो जाएँ, परन्तु प्रण नहीं जाना चाहिए। प्राणों को अर्पण करके भी प्रण का पालन करना मेरे पूर्वजों का नियम है। मैं इसी परम्परा का प्रतिपालक हूं। तुम जो चाहो, मांग सकती हो। प्राण देकर भी मैं अपने प्रण का पालन करूंगा।

कैकेयी ने महाराज दशरथ के मुख से वचन की पूर्त्ति की बात सुनकर अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट की और फिर उसी समय महाराज के सामने अपनी दोनों मांगें प्रस्तुत कर दी। उसने हृदय को कठोर बनाकर कहा—प्राणनाथ ! यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं और अपने को प्रतिज्ञाबद्ध समझते हैं तो मैं यही मांगती हूँ, कि भरत को राजसिंहासन और राम को चौदह वर्ष का वनवास मिलना चाहिए। इसमें कुछ अधिक सोचने-विचारने की बात नहीं है क्योंकि आपके लिए जैसे राम वैसे ही भरत भी है।

कैकयी की बात सुनकर दशरथ को असीम खेद हुआ, उनके हृदय पर जैसे वज्रपात हो गया। वह राम का वियोग

सहन करने में असमर्थ थे, परन्तु प्रतिज्ञाबद्ध होने से कुछ भी न कह सके। उन्हें राम के लिए जो चिन्ता हुई, उससे भी बढ़कर इस चीज के लिए हुई कि अब तक जिस परिवार में एकरूपता थी, पारस्परिक प्रीति थी, सौमनस्य था, वह अब छिन्न-भिन्न होने जा रहा है। उसमें ईर्षा और द्वेष के विषैले अंकुर फूट रहे हैं। अपने परिवार के भविष्य के धुंधले चित्र को आंखों के सामने देखकर वह संज्ञाशून्य हो गये।

रामचन्द्रजी को इस घटना का पता चला तो वे तुरन्त पिता के पास आ पहुँचे। मूर्छा दूर करने के लिए समुचित उपचार किया। महाराज जब होश मे आ गये तो विनयपूर्वक, अतीव नम्रता के साथ कहा–पिताजी! आपको अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने मे भी संकोच नहीं करना चाहिए। आपके लिए जैसा मैं हूं वैसे ही भरत है, भरत मेरा भाई है, कोई गैर नहीं। उसके राजसिंहासन पर आसीन होने से मुझे किंचित् भी दुःख नहीं, प्रत्युत प्रसन्नता होगी। मैं कल ही सहर्ष वनवास के लिए प्रस्थान कर दूंगा। पिता की आज्ञा का पालन करना पुत्र का परम कर्त्तव्य है, फिर यह कर्त्तव्य मुझे अप्रिय भी नहीं है। कुछ काल वन में व्यतीत करने से मेरे जीवन में नवीनता आएगी, अनुभवों की समृद्धि बढ़ेगी, आपकी प्रतिज्ञा पूर्ण होगी, माता कैकेयी की अभिलाषा की पूर्त्ति होगी और मैं अपने प्राणप्रिय अनुज भरत को राजा के रूप में देख सकूंगा। इस तरह सब प्रकार से लाभ ही लाभ है।

यह है आदर्श जीवन! इसे कहते हैं जाज्वल्यमान त्याग! पितृभक्ति, भ्रातृप्रेम, औदार्य और गंभीरता राम के जीवन में

कूट-कूटकर भरी है। उन्होंने पिता की प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए अवध के विशाल राज्य को तृण की तरह त्याग दिया और चौदह वर्ष के लिए वनवास के घोर कष्टों को सहर्ष स्वीकार किया। वास्तव में रामचन्द्र का यह महान् आदर्श युग युग में मानव-जाति के लिए स्पृहणीय रहा और रहेगा। ऐसा अनूठा चरित भारतभूमि में ही जन्म ले सकता है। प्रतिज्ञा-पालन का कितना उत्तम उदाहरण है।

तो मै यही कह रहा था कि किसी प्रण को अंगीकार करना तो सरल है, परन्तु उसे निभाना कठिन होता है वीर पुरुष ही अपने प्रण का परिपालन करने में समर्थ हो सकता है, कायर-हृदय मे इतनी क्षमता कहां? वह तो जरा-सी आपत्ति आते ही मैदान छोड़कर भाग जाता है। कहा भी है—

खड़ा खड़ा कायर धूजे, लख ण खांडा की धार ॥ प्रण० ४ ॥

जीवन में कभी ऐसी परिस्थिति भी उत्पन्न हो जाती है जब प्रण का पालन करना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन प्रतीत होने लगता है, ऐसे प्रसग पर कायर कांपने लगता है और प्रण का त्याग कर देता है। मगर वीर पुरुष उस परि-स्थिति के साथ सघर्ष करता है, उससे जूझता है और अपनी दृढ़तापूर्ण मनोवृत्ति के द्वारा विजय प्राप्त करता है।

प्रण किस प्रकार निभाया जाता है, इसका दूसरा उदाहरण महाराणा प्रताप के चरित मे मिलता है—

प्रतापसिंह प्रण राखना, सहे वन वन दुःख अपार ॥ प्रण० ५ ॥

भारतवर्ष के इतिहास में महाराणा प्रताप का नाम स्वर्ण-वर्णों में अंकित है। यद्यपि आज उनका भौतिक शरीर विद्यमान नहीं है, तथापि उनका यशःशरीर मौजूद है और उनकी वीरता की याद ताजा है। जिस वीर क्षत्रिय ने अपनी प्रतिज्ञा को निभाने के लिए घोर से घोर कष्ट सहन किये, जो जंगल जंगल में भटकता फिरा, जिसने अपने बच्चों के भी कष्टों की परवाह नहीं की और जो निरन्तर ही कठिनाइयों से लड़ता रहा और अपने प्रण पर डटा रहा, उस प्रताप का यश कब मलीन हो सकता है। उसने जो सिर एकलिंगजी के सामने झुका दिया, वह किसी दूसरे के सामने नहीं झुकाया।

प्रताप चाहते तो बात की बात में उनके समस्त कष्टों का अन्त आ सकता था। अकबर चाहता क्या था ? वह प्रतापसिंह का राज्य नहीं छीनना चाहता था, उनका कोष नहीं लूटना चाहता था, सिर्फ यही चाहता था कि वह एक बार मुझसे सलाम कर लें। प्रताप एक बार उससे मिल लेते तो बड़े आनन्द में रह सकते थे और सब प्रकार के कष्टों से छुटकारा पा सकते थे, मगर वह तो आन के धनी थे। उन्होंने सम्राट् अकबर को कहला भेजा-यह सिर तुम्हारे सामने झुकने वाला नहीं है। इस प्रकार की दृढ़ता के प्रतिफलस्वरूप उन्हें जंगल में घास की रोटियां खाकर उदर-निर्वाह करना पड़ा। उन्होंने यह सब सहर्ष स्वीकार किया, परन्तु प्रण से विचलित होने का विचार तक नहीं किया। इसी कारण उनका नाम अमर हो गया। आज भी कोटि-कोटि जनता उन्हें सम्मान के साथ स्मरण करती है और उनके प्रति अपने हृदय की गहरी श्रद्धा प्रकट करती है।

'जो दृढ़ राखे धर्म को ताहि राखे करतार।'

मेवाड़ के महाराणा का यह मुद्रालेख आज भी उनकी प्रणवीरता का सदेश सुना रहा है।

तो धर्म की रक्षा के लिए तन, धन और सर्वस्व भी समर्पित कर देना पड़ता है। मनुस्मृति में कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

हे मानव! तू इस दुर्लभ मनुष्यभव को प्राप्त करने में सफल हो सका है तो धर्म की रक्षा कर, क्योंकि धर्म के प्रसाद से ही तुझे यह स्थिति प्राप्त हुई है। यदि तू धर्म का नाश करेगा तो स्वय तेरा विनाश हो जायगा। अतएव जो अपनी रक्षा चाहता है उसे धर्म की रक्षा करना चाहिए।

आग में जब तक जलाने का धर्म—गुण—विद्यमान रहता है, तब तक सिंह भी उससे डरता है। वह जानता है कि मैं इसके पास जाऊंगा तो यह मुझे जला देगी। मगर वही आग जब अपने धर्म को त्याग देती है और राख के रूप में परिणत हो जाती है, तब एक कीड़ा भी उससे नहीं डरता। वह भी निःसंकोचभाव से उसके पास चला जाता है।

सच पूछो तो आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति उसके धर्म में ही निहित है। अतएव आत्मा को सबल बनाने के लिए धर्म का पोषण करना चाहिए। जिन्होंने धर्म का पोषण किया और प्राणों पर सकट आ पड़ने पर भी धर्म का तिरस्कार नहीं किया, वही जगत् में महापुरुष कहलाए, वही श्रद्धा और भक्ति के भाजन बने,

अमर हो सके और उन्हीं का जीवन धन्य बन सका। वे अपने जीवन से जगत् के समक्ष ऐसा उत्तम उदाहरण उपस्थित कर गये कि अनेक लोग उनका अनुसरण करके सुपथगामी बनते हैं और सदैव उनका स्मरण करते हैं।

मगर आज हम क्या देखते हैं ? मानव मानवता के गुणों से दूर और दूरतर होता जा रहा है। उसमे जो सरलता, सहृदयता दयालुता, परदुःखकातरता, भद्रता, नम्रता, निश्छलता आदि गुण होने चाहिए, वह क्रमशः क्षीण होते जाते हैं। वे कहते कुछ और करते कुछ हैं। स्वार्थलिप्सा की वृद्धि होती जा रही है। अपने क्षुद्र-से लाभ के लिए दूसरों का बड़े से बड़ा अहित करने को उद्यत हैं। नम्रता नजर नहीं आती। थोड़ी-सी विद्या सीख ली और सत्ता मिल गई तो क्या पूछना है। सीधी तरह बात भी नहीं करते। अभिमान के शिखर पर चढ़ जाते हैं। और जहां अभिमान होगा वहां विनय रह नहीं सकता। अतएव यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आज मानव नामधारियों की सख्या तो बहुत है, मगर उनमें मानवता को धारण करने वाले कम ही मिलते हैं।

वस्तुतः मानव की विशेषता मानवता की प्रतिष्ठा में है। मानव की आकृति मात्र से ही कोई मानव नहीं कहला सकता। उसमें मानवता का गुण होना चाहिए।

आज जनसाधारण मे दया की भावना भी कम हो गई है। स्वार्थपरता बेहद बढ़ती जा रही है। 'जो छोटा है वह छोटे स्वार्थों की पूर्त्ति में और जो बड़ा है, वह बड़े स्वार्थों की पूर्त्ति मे

संलग्न दिखाई दे रहा है। स्वार्थ का ऐसा बोलबाला हो गया है कि लोग मानते हैं कि कोई मरे तो मर जाय, किसी का गला कटता हो तो कट जाय, परन्तु मेरी तिजोरी भरनी चाहिए। ऊँची-ऊँची कुर्सियों पर बैठने वाले और देश की वागडोर अपने हाथ में सँभालने वाले भी स्वार्थ के पुतले बने हुए हैं।

न्यायाधीश और गवर्नर आदि प्रतिज्ञा करवाते हैं और मिनिस्टर आदि प्रतिज्ञा ग्रहण करते हैं कि मैं अपनी जिम्मेवारी को पूर्णरूप से निभाऊँगा मगर उस प्रतिज्ञा का होता क्या है? प्रतिज्ञा के अक्षर आकाश में विलीन हो जाते हैं और शून्य में परिणत हो जाते हैं। उनकी कुछ भी कीमत नहीं समझी जाती। अपवादरूप कोई व्यक्ति उस प्रतिज्ञा का ध्यान रखता होगा और उसीके अनुसार कार्य करता होगा; अन्यथा तो यही देखा जाता है कि प्रतिज्ञा कुछ और तथा कार्य कुछ और ही होता है। इस प्रकार देश में अप्रामाणिकता की वृद्धि हो रही है और देश का चरित्र नीचा गिरता जा रहा है। जो लोग राष्ट्र के नायक बने हुए हैं, उन्हीं मे जब प्रामाणिकता का अभाव है तो साधारण जनता पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। वह पड़ भी रहा है और सारा देश अनीति के दलदल में फँसता जा रहा है।

राष्ट्र के कर्णधारों में उच्च कोटि की नैतिकता होनी चाहिए। इससे राष्ट्र का अभ्युदय और विकास होगा, साथ ही उन्हें स्वयं को भी लाभ होगा। जो लोग पूर्ण प्रामाणिकता और कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना से कार्य करते हैं, जनता उनके प्रति सन्तोष व्यक्त करती है, उनकी सराहना करती है और जब चुनाव सामने आता है तो उन्हीं के पक्ष में अपना मत प्रदान करके

उन्हें सफल बनाती है। वे पुनः उस कुर्सी को प्राप्त कर लेते हैं। इसके विपरीत, जो अपने उत्तरदायित्व को ईमानदारी के साथ नहीं निभाते हैं, प्रामाणिकता के साथ कार्य नहीं करते हैं, जो कुर्सी पाकर स्वार्थ सिद्ध करने मे ही दिलचस्पी रखते हैं, उन्हें सत्ता से सदा के लिए हाथ धोना पड़ता है। उनके कारनामों से राष्ट्र को जो महान् क्षति होती है, उसका तो कहना ही क्या है।

कहने का आशय यह है कि आज सर्वत्र स्वार्थ का ही दौर चल रहा है। इस स्वार्थपरायणता का ही फल है कि देश को जिस तेज़ रफ्तार से आगे बढ़ना चाहिए था, नहीं बढ़ पा रहा है और कुछ निस्वार्थ देशभक्त व्यक्तियों के महान् प्रयास भी पर्याप्त फल नहीं उत्पन्न कर रहे हैं।

अधिकारियों और शासकों की इस मनोवृत्ति का असर साधारण जनता पर भी पड़ता है और वह श्रद्धाविहीन होती जा रही है। लोगों के हृदय से दया और दान की भावना भी कम होती जाती है। आज का मनुष्य पैसों के लिए मनुष्य के प्राणों की ही कोई कीमत नहीं समझता तो बकरों, मछलियों और अण्डों पर क्या दयाभाव लाएगा? आज का जमाना इतना स्वार्थी हो गया है कि स्वार्थ-साधना ही उसके जीवन की सर्वोत्कृष्ट साधना बन गई है। मगर यह मानवता के विकास का मार्ग नहीं है। इससे मानवता का ह्रास होता है, मानवता कलंकित होती है और जीवन दुरूह एव जटिल बनता जाता है।

जब प्रत्येक या अधिकांश व्यक्ति स्वार्थपरायण हो जाते हैं तो समाज का जीवन कष्टमय बन जाता है। सभी एक दूसरे को

चूसने और ठगने का प्रयास करते हैं और परिणाम यह आता है कि किसी को भी शान्ति एवं निराकुलता नसीब नहीं होती। कोई किसी पर विश्वास नहीं करता, सभी सबसे सशंक रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में किस प्रकार जीवन का माधुर्य कायम रह सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

उपदेश के रूप में आप लोगों से हमारा यही कहना है कि आप मनुष्य बने हैं तो मनुष्यता को अपनाओ और उसके विकास के लिए सतत चेष्टावान् बनो। यदि आपमें मानवता आ गई तो सरलता, निरभिमानता, अक्रोधभाव, विनयसम्पन्नता, दयाशीलता, और प्रणपरायणता भी अवश्य आजाएगी, क्योंकि इन्हीं और इन जैसे अन्य सात्विक गुणों की समष्टि ही आदर्श मानवता है।

श्री छोटू भाई का भाषण

पण्डित मुनि श्री हीरालालजी म०, मुनि श्री लाभचन्दजी म०, अन्य महात्मागण, तथा उपस्थित भाइयों ! बहिनों !

यहां आकर मुझे प्रस्तुत विषय में कुछ बोलना पडेगा, यह मेरे ख्याल में नहीं था। परन्तु यहां आने पर स्थानीय जैन भाइयों ने मुझे भी आज के प्रसंग पर बोलने का, या यों कहिए कि एक प्रकार का फर्ज अदा करने का आग्रह किया, इसी कारण मैं आपके सामने दो शब्द बोलने के लिए खड़ा हुआ हूं। आशा है आप मेरे विचारों को ध्यानपूर्वक सुनेंगे, महाराज श्री की आज्ञा के अनुसार मैं दो शब्द आपको सुना रहा हूं—आप सुनेंगे।

आज केशलोंच का जो कार्यक्रम चल रहा है, उसे मैं पूर्णरूप से नहीं देख सका, क्योंकि मैं कुछ देर से सभा में उपस्थित हो सका हूँ और न मुनि श्री हीरालालजी म० के वक्तव्य का लाभ उठा सका हूं। परन्तु इस धर्मसभा में आने का यह मेरा दूसरा-तीसरा समय है, जब कि मैं मुनि श्री हीरालालजी म० के वक्तव्य में उपस्थित हुआ हूँ।

भाइयों! हमारा यह सौभाग्य है कि हमारे बैंगलोर शहर में ये साधु-मूर्त्तियां पधारी हैं और इनके पधारने से यहां की बस्ती को प्रवचन का लाभ मिला है। आज लोच की क्रिया आपने देखी है, यह एक साधना है। जैनियों के साधुओं की देह की साधना भारत में ही नहीं विदेशों में भी मानी हुई है। यह कोई बात नहीं कि कोई तरह का पाउडर हो। जैसा कि महाराज श्री ने कहा कि आज हम बहुत आगे बढ़ गये हैं और हमारी तरक्की हो गई है। तो यहां तरक्की का मतलब है कि हमारे कार्य शुद्ध हों—बस यही तरक्की है। परन्तु आज जो वैज्ञानिक तरक्की हो रही है और देख हम फूले नहीं समाते हैं, वह तरक्की नहीं किन्तु विनाश का चिह्न है, और इस विज्ञानयुग में कोई मान ले कि किसी चीज के द्वारा बाल निकाले हैं—कोई चीज लगा ली और बाल उखाड लिये हैं, लेकिन मैं समझता हूँ कि यहां तो कोई व्यक्ति ऐसा नहीं होगा कि जिसे ऐसा शक भी हो, और फिर ऐसा विचार करना भी महापाप है। हर एक सम्प्रदाय से जैन धर्म को कोई महत्त्व है और इस बिगड़ी हुई दुनियां में भी ये लोग वही करके दिखलाते हैं जैसा कि बोलते हैं।

हमारे सनातन धर्म में कहा गया है—

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

अर्थात्—अन्धकार से निकाल कर प्रकाश में ले जा ।

तो उपर्युक्त सिद्धान्त को हम मानते तो हैं परन्तु उसके अनुसार आचरण नहीं करते ।

जैनधर्म में साधु जो उपदेश देते हैं, वह कितने महत्त्व का है । हम आज भी जाते हैं । और भाषण सुनते हैं, परन्तु धारण नहीं करते हैं । इस जमाने में मेरे जैसे मामूली आदमी, जो जानते तो हैं परन्तु करते नहीं हैं, उन्हें उपदेश दिया जाय तो वह कोई महत्त्व नहीं रखता, जब कि ये महात्मा लोग हमारे सामने करके दिखाते हैं । यह हमारे लिए सौभाग्य का दिन है ।

आज हर कोई विश्वबन्धुत्व की बात करता है, परन्तु जो हलाहल के शिखर पर दुनियां पहुँच गई है, उसे विनाश से बचाने के लिए हमे कोई रास्ता दिखाई नहीं देता । उससे बचने के लिए केवल भावज्ञान का आधार है ।

विज्ञानयुग में विश्व के लिए विश्वबन्धुत्व की भावना को आगे बढ़ाना चाहिए और दम्भ नहीं करना चाहिए । इसके लिए सत्य और अहिंसा का सिद्धान्त जरूर अपनाना पड़ेगा ।

हम लोग प्रतिज्ञा हमेशा लेते हैं परन्तु उस पर अमल नहीं करते, परन्तु महाराजश्री ने बिना अस्त्र के सिरमुण्डन किया है । हम इनके सामने हाथ जोड़ कर खड़े हो जाते हैं और अमुक कार्य न करने की प्रतिज्ञा लेते हैं किन्तु घर जाते ही उस प्रतिज्ञा को भूल जाते हैं ।

भाइयो ! इन लोगों को आपसे कुछ नहीं चाहिए। इन्हें तो पूर्ण विश्वास है कि देने वाला जो भगवान् है, वही देता है। एक सनातनधर्मी भाई का वक्तव्य उसी की दृष्टि से समझना चाहिए, जैन दृष्टि से नहीं। हमने अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा रक्खी हैं, उनसे हमारा काम नहीं बनने वाला है। इससे तो हमारा जीवन अशान्तिमय ही बनेगा।

महाराज हम लोगों के जीवनसुधार के लिए जो कुछ कहें और जिस बात को हम प्रतिज्ञा के रूप में ग्रहण करें उसे जाहिर में कहने की आवश्यकता नहीं है कि मैं यह करूँगा या यह नहीं करूँगा। बल्कि उसका आचरण करने की आवश्यकता है। महाराज जो उपदेश देते हैं उसे हम रत्ती भर भी ग्रहण कर लें तो हमारा जीवन भी धन्य धन्य हो जाएगा। तो हम कब करेंगे, यह मालूम नहीं है। परन्तु हमारे जीवन का रहन-सहन ही कुछ ऐसा हो गया है और हम इतने बिगड़ गये हैं और मैं इतना पापी हूँ कि मैं कुछ नहीं कर सकता। मगर हमें यदि सुधरना है तो इनके पास कोई कानून नहीं है भारतसरकार की तरह: कि कानून भंग करने वाले को गोली से उड़ा दो। इनके पास तो अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का शस्त्र है। इसके सिवाय दूसरा कोई भौतिक शस्त्र नहीं है।

तो हम सुधर जाएँ तो इसमें विश्व का कल्याण है। मगर मैं कोई उपदेश देने के लिए नहीं खड़ा हुआ हूं। आज जैन भाइयों ने जो इन्तजाम किया है, वह उत्तम है। आज आपके सामने चीफ मिनिस्टर बैठे हुए हैं। भाई, मगर चीफ मिनिस्टर होना कोई मुश्किल नहीं है, पर मनुष्य होना मुश्किल है। हम

सब मनुष्य नहीं हैं। हम मनुष्य का शरीर धारण करने से ही मनुष्य कहलाते हैं। हमें सच्चे मायने मे मनुष्य बनना है। परन्तु ये ऐसे व्यक्ति हैं कि सब कार्य करते हुए भी मानव हैं।

मैं बड़े आदमियों के सामने क्या बोलूँ? परन्तु वे बोलना नहीं चाहते। ठीक भी है, नारायण सेट्ठी का विश्वास है कि भाषण से किसी का भला नहीं होता है। किन्तु उन्हें लोग तग करते हैं और बोलने का आग्रह करते हैं। तब कभी-कभी वे अपने भाषण में कहा करते हैं कि भाषण करने का काम आपके लिए छोड़ दिया गया है। ये अत्यन्त सीधे-सादे मनुष्य हैं।

तो अब मुझे क्षमा करेंगे। आप लोगों ने मुझे यहां बुला· कर दो बात कहने का मौका दिया, उसके लिए मैं आप सब को धन्यवाद देता हूँ। जैनधर्म की एक बात भी हमारे हृदय में समा जाए और हम उसके मुताबिक आचरण करने लग जाएँ तो हमारा और साथ ही विश्व का कल्याण हो सकता है।

६–६–५६
बैंगलोर केन्टोमेन्ट

सांवत्सरिक महापर्व



सिद्धाणं बुद्धाणं० ।

卐卐

भाइयो ! पर्युषण महापर्व का आज अन्तिम दिवस है। आज का दिन सांवत्सरिक महापर्व कहलाता है। यह पर्व न केवल जैनों के लिए, वरन् प्राणीमात्र के लिए आनन्ददायक है। इस पर्व का जैन साहित्य में बड़ा भारी माहात्म्य बतलाया गया है।

सांवत्सरिक पर्व के साथ मानव जाति के भाग्य का महत्त्वपूर्ण इतिहास जुड़ा हुआ है। आप जानते हैं कि काल का चक्र अत्यन्त प्रबल है। उस चक्र के नीचे जो भी आता है, पिसता ही चला जाता है, उससे कोई बच नहीं सका, बच नहीं सकता और बच सकेगा भी नहीं, काल का प्रभाव अप्रतिहत है।

कालचक्र के दो मुख्य विभाग हैं जिन्हें हम अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के नाम से पहचानते हैं। इनमें से भी प्रत्येक के छह-छह विभाग हैं। इस समय अवसर्पिणी काल का पांचवां

विभाग (आरा) चल रहा है जब पाचवें के पश्चात् छठे आरे का समय आता है तब इस भारतभूमि में घोर उथल-पुथल होती है। वह प्रलय काल कहलाता है। इस काल में इस भूमि पर आग की वर्षा होगी, भीषणतम अधड़ चलेगा और ग्राम तथा नगर सबके सब विध्वस्त हो जाएँगे अधिकांश जीव मृत्यु को प्राप्त होंगे, केवल ७२ बिल गंगा और सिन्धु नदी के किनारे पर होंगे, और बीज रूप मे मनुष्य, पशु और पक्षी रहेंगे।

इक्कीस हजार वर्ष का छठा आरा समाप्त होने पर उत्सर्पिणी काल के इक्कीस हजार वर्ष प्रथम आरे के पूर्ण होने पर दूसरे आरे के प्रथम सात दिन पुष्कल सवर्तन नाम का मेघ मुष्टी प्रमाण से पानी बरसेगा और उससे उत्तप्त भूमि ठण्डी हो जाएगी, उसके बादसात दिन खीरनाम का मेघ बरसेगा फिर घी मेघ, अमृत मेघ, रस मेघ ये सात-सात दिन बरसेगें और दो सप्ताह उघाड़ रहेगा। इन ४६ दिनों में जमीन में सरसता आ जाएगी और नाना प्रकार की वनस्पतियां फूट निकलेंगी। तब वे बिलवासी जीव अपने २ बिलों से बाहर निकलेंगे और हरसब्ज एव शीतल भूमि हुई जानकर आनन्द का अनुभव करेंगे। बिलवासी मनुष्य आदि पहले मांस पर जीवन निर्वाह करते थे, अब वनस्पति का प्रादुर्भाव हो जाने पर मांस भक्षण का परित्याग कर देंगे और सामूहिक रूप से कड़ाई के साथ मास का बहिष्कार करेंगे।

जैनशास्त्र के अनुसार श्रावण मास से नूतन युग का प्रारंभ होता है और ४६ दिनों में पृथ्वी हरी-भरी होती है। अतएव उस समय के नूतन जीवन का प्रारम्भ भाद्रपद शुक्ल पचमी को आरम्भ होता है। इस प्रकार भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की

पंचमी का दिन एक नवीन युग के प्रारम्भ का निर्दोष जीवन पद्धति को अपनाने का तथा एक महान् घटना की स्मृति का दिन है। यही कारण है कि इस पचमी को सांवत्सरिक पर्व मनाया जाता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी इस पर्व का विशेष महत्त्व है। जैन मात्र, चाहे वह किसी भी परम्परा के अनुयायी क्यों न हों, सांवत्सरिक पर्व अवश्य मनाते हैं। इस पर्व के दिन सांवत्सरिक प्रतिक्रमण किया जाता है और वर्ष भर मे जान-अनजान मे जो दोष या पाप हुए हों, उनकी आलोचना करके उनके लिये मिथ्या दुष्कृत दिया जाता है, अर्थात् 'मिच्छा मि दुक्कड' कहकर उनको निष्फल किया जाता है। चित मे जो कषाय विद्यमान हो उसे इस दिन निकाल कर दूर किया जाता है और हृदय को पूरी तरह निश्शल्य एवं निष्कषाय बनाने का प्रयत्न किया जाता है। वर्ष में कम से कम एकबार हृदय शुद्धि करने से सम्यक्त्व की रक्षा होती है। अगर एकबार भी कषाय का उन्मूलन न किया जाय और कषाय एक वर्ष से भी अधिक समय तक बना रहे तो वह अनन्तानुबंधी कषाय की श्रेणी में पहुँच जाता है, जिसकी विद्यमानता मे सम्यग्दर्शन नहीं टिकता। इस प्रकार सम्यक्त्व की रक्षा के लिए भी यह आवश्यक है कि संवत्सरी के दिन हृदय मे किसी भी प्रकार का कषाय न रहने दिया जाए।

पर्युषण पर्व के गत सात दिनों में आपने जो धर्म की आराधना की है, वह आज के दिन को तैयारी के रूप में समझना चाहिए। एक सप्ताह की तैयारी के पश्चात् आज आपको अपना हृदय पूरी तरह निर्मल बनाना है।

आठ दिनों से श्रीमद् अन्तगडसूत्र आपके समक्ष सुनाया जा रहा है, आपको कुछ राजाओं का, कुछ रानियों का, कुछ राजकुमारों का और कुछ सेठों का जिक्र सुनाया गया है, जिन्होंने अन्तिम समय में केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त करके मोक्षलाभ किया है।

भाइयो! संसार के सब जीव दुःखों से छूटना चाहते हैं और सुख प्राप्त करना चाहते हैं। इसी के लिए सभी जीव प्रयत्न भी कर रहे हैं। मगर सब अपने उद्देश्य मे सफल नहीं होते। इसका कारण यह है कि अज्ञान के कारण अधिकांश जीव सुख की कामना करते हुए भी और उसके लिए चेष्टावान् हो कर भी ऐसे विपरीत कार्य करते हैं, जिनसे उन्हें सुख के बदले दुःख ही प्राप्त होता है। वे समझते हैं कि सांसारिक पदार्थों का अधिक से अधिक सयोग होने से हमे सुख प्राप्त होगा। यह समझ कर वे उनका सग्रह करते हैं; मगर सांसारिक पदार्थों का सयोग ही वास्तव मे दुःख का कारण है। दुःख से छूटने के लिए त्याग की आवश्यकता है। मनुष्य जैसे-जैसे बाह्य पदार्थों का त्याग करता जाता है, वैसे-वैसे उसे सुख प्राप्त होता जाता है। त्याग के बिना दुःख से छुटकारा होना कठिन ही नहीं; असम्भव है।

आज आपने २३ महासतियों का वृत्तान्त सुना। उनमें से १३ तो महाराज श्रेणिक के सामने और उनकी आज्ञा लेकर सती चन्दनबाला की शिष्या बनी थीं, दस राजा श्रेणिक की मृत्यु के बाद दीक्षित हुई थीं।

राजा श्रेणिक का एक बेटा कोणिक था, जिसके द्वारा श्रेणिक की मृत्यु हुई। श्रेणिक को कोणिक ने कारागार में कैद कर

दिया था और अनेक यातनाएँ दी थीं। एक वार रानी चेलना ने कोणिक को उसके जन्म का वृत्तान्त सुनाया। कहा—तू जव गर्भ में था तो मुझे तेरे पिता के कलेजे का मांस खाने की इच्छा हुई थी। इस दुष्ट इच्छा से मैंने समझा कि यह इस पापी गर्भ का ही प्रताप है। यह सोच कर मैंने तुझे मारने के अनेक उपाय किये, मगर भवितव्य के योग से तेरी मृत्यु नहीं हुई। जन्म होने पर मैंने अपनी विश्वस्त दासी के द्वारा तुझे उकरड़ी पर फिकवा दिया। वहां पड़े रहने के कारण तेरी एक उंगली कूकड़े ने खा ली। मगर तेरे पिता को किसी प्रकार यह वात मालूम हो गई और उन्होंने तुझे वहां से मँगवा लिया। उन्होंने मुझे आदेश दिया कि इसका पालन पोषण करो। इस प्रकार हे कोणिक ! तेरे पिता की कृपा से ही आज तू जीवित है। तुझ पर पिता का असीम स्नेह और उपकार है।

माता के मुख से यह इतिवृत्त सुन कर कोणिक एक लोहे का डडा हाथ मे लेकर अपने पिता श्रेणिक को पींजरे में से निकालने के लिए दौड़ा। श्रेणिक ने उसे आते देख समझ लिया कि यह दुष्ट मुझे कोई नवीन यातना देने आ रहा है। अतएव हीरा की कणी खाकर उन्होंने अपने जीवन का अन्त कर लिया।

श्रेणिक ने अपनी जीवितावस्था मे ही राज्य का बँटवारा कर दिया था और कोणिक से छोटे पुत्र वहिलकुमार को हार और सेचानक नामक हाथी दे दिया था।

वहिलकुमार हाथी पर आरूढ़ होकर गंगा नदी के किनारे सैर करने निकलता तो उसकी अनूठी शोभा देख कर लोगों से

रहा नहीं जाता और वे आपस में कहते—राज्य के सर्वोत्कृष्ट वैभव का उपभोग तो वहिलकुमार ही कर रहा है। हाथी के अभाव में कोणिक तो नाममात्र के राजा हैं।

कोणिक की रानी पद्मावती के कानों तक यह बात पहुँची तो उसके चित्त में ईर्षा की आग भड़क उठी। उसने कोणिक से कहा—तुम मगध के सम्राट् कहलाते हो, मगर हार और हाथी तो तुम्हारे पास है ही नहीं।

रानी जब समझाने पर भी न समझी तो कोणिक ने वह हार और हाथी अपने भाई से मँगवाया। उत्तर में वहिलकुमार ने कहलवा दिया—पिताजी ने राज्य के बदले में मुझे हार और हाथी दिये हैं। अगर आप इन्हें लेना चाहते हैं तो राज्य के ग्यारह हिस्सों में से एक हिस्सा मुझे दे दीजिए।

मगर कोणिक ने विहलकुमार के उत्तर को ठुकरा दिया। वहिलकुमार हार और हाथी लेकर अपने नाना चेटक के यहां चला गया। उसने सारी परिस्थिति वतलाकर कहा—आप आज्ञा दें तो मैं यहां रहूँ अन्यथा नहीं। नाना की स्वीकृति मिलने पर वह वहां ठहर गया।

कोणिक ने चेटक के पास अपना दूत भेजा और हार-हाथी की मांग की मगर चेटक ने वही उत्तर दिया जो वहिलकुमार ने दिया था। आखिर भीषण सग्राम हुआ और उसमें कोणिक की विजय हुई। मगर कोणिक को हार-हाथी हाथ नहीं लगा। हार को देवता ले गए और हाथी आग में जल कर भस्म हो

गया। यह युद्ध इतना भयानक और संहारक हुआ कि एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य उसकी बलि चढ़ गए।

जब यह युद्ध चल रहा था, तब भगवान् महावीर का चम्पा नगरी में पदार्पण हुआ। उस समय काली नामक रानी भगवान् का उपदेश सुनने गई। उसने भगवान् से प्रश्न किया—भगवन्! मेरा बेटा कालीकुमार युद्ध करने गया है। वह विजयी होगा या पराजित? उत्तर में भगवान् बोले—रानी! तुम्हारा पुत्र युद्ध में गया था, परन्तु उसकी मृत्यु हो चुकी है।

यह उत्तर सुन कर रानी को जीवन की अनित्यता एवं क्षणभंगुरता का भान हुआ और हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया। राजा कोणिक की अनुमति लेकर उसी समय वह चन्दनबालाजी की शिष्या हो गई। इसी प्रकार दसों रानियों ने अपने-अपने पुत्रों के लड़ाई मे मारे जाने के समाचार सुने और दसों ने विरक्त होकर चन्दनबालाजी के निकट दीक्षा अंगीकार कर ली।

तो रानियों ने विचार किया-हमने गृहस्थावस्था में रह कर सुवर्ण और मोतियों के हार गले मे धारण किये, अब साध्वी बन कर रत्नावली और मुक्तावली आदि तपस्याओं के हार से आत्मा को विभूषित करना चाहिए। यह सोच कर उन्होंने चन्दनबालाजी की अनुमति लेकर कठिन तपस्या अंगीकार की। अनादि कालीन कर्मप्रवाह से मलीन बनी हुई आत्मा के समस्त दोषों को तपस्या की तीव्र अग्नि में भस्म करके उन्होंने पूर्ण विशुद्धि प्राप्त की और अन्त में अनाबाध सुख की प्राप्ति की।

भाइयो! वे सुकुमार शरीर वाली राजरानियां थीं। उन्होंने दुःख और सकट कभी देखा नहीं था। सर्दी गर्मी सही नहीं थी।

मगर जब दीक्षा अंगीकार की तो कठिनतर तपश्चर्या में अपने शरीर को दृढ़तापूर्वक झौंक दिया। इसे कहते हैं त्याग और यह कहलाता है तप।

यह सब रानियां महासती चन्दनबाला की शिष्या बनीं। चन्दनबाला भगवान् महावीर की आज्ञानुवर्त्तिनी ३६ हजार साध्वियों की नायिका थीं। वह राजकुमारी थी और उन्होंने अपने जीवन में घोर संकट सहन किये थे।

भारत में चम्पा नामक नगरी थी। वहां के राजा दधिवाहन थे और धारिणी उनकी रानी थी। चन्दनबाला इन्हीं की सुकन्या थी। उसे बाल्यावस्था मे धार्मिक और व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा मिली थी।

उसी समय कौशाम्बी का राजा शतानीक था। उसके हृदय में राज्यविस्तार की लालसा जागृत हुई और उसने चम्पा पर चढ़ाई कर दी। शतानीक की अपेक्षा दधिवाहन के पास युद्ध के साधन कम थे, अतएव वह अपनी जान और इज्जत बचाने के लिए जंगल मे चला गया। शतानीक विजयी हुआ।

विजयी होने पर शतानीक ने चम्पा नगरी को लूट लेने की आज्ञा दे दी। उसका सेनापति दधिवाहन के महल में घुस गया और सैनिकों ने सारी नगरी में लूट-पाट मचा दी। उस समय चन्दनबाला और उसकी माता महल के एक कोने में छिपी अपने प्राणों की रक्षा कर रही थीं। सेनापति की उन पर दृष्टि पड़ गई और उस लूट में उसने उन दोनों को हथिया लेना चाहा। विषय के उस कीड़े ने उनसे कहा—'आगे हो जाओ।'

इस प्रकार उन्हें रथ में बैठा कर और पर्दा डाल कर उसने कौशाम्बी की ओर प्रस्थान कर दिया। जब वह जंगल मे पहुँचा तो मौका देख कर उसने रथ खड़ा कर दिया और पर्दा हटा दिया। फिर उस विषयान्ध ने धारिणी रानी से कहा—रानी! तुम्हारे पति युद्ध में मारे गये हैं। अब उनसे कभी तुम्हारी भेंट नहीं होगी। मगर देखो, जब एक मकान ढह जाता है तो बुद्धिमान् दूसरा मकान तैयार कर लेता है। इसी प्रकार तुम्हारे पति मारे गये हैं तो मुझे पतिरूप में स्वीकार कर लो।

यह वचन धारिणी महारानी के कलेजे में तीर की तरह चुभ गये। उसने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जीभ खींचकर प्राण त्याग दिये।

धारिणी के मर जाने पर चन्दनबाला असहाय हो गई और विलाप कर-करके रुदन करने लगी, तब उसने सोचा-एक अबला की हत्या का पाप मेरे सिर चढ़ गया, कहीं यह कन्या भी प्राण न छोड़ दे! अतएव उसने चन्दनबाला को आश्वासन दिया और कहा-मैं तुझे बेटी की तरह रक्खूंगा, शोक मत कर, मेरी वासना तेरी माता के साथ ही मर चुकी है।

वह उसे अपने घर ले गया, परन्तु जब उसकी पत्नी ने चन्दनबाला को देखा तो आगबबूला हो गई। उसने समझा-यह मेरी सौत आ गई है। उसने अपने पति से साफ कह दिया-इस लड़की का मेरे घर मे गुजर नहीं हो सकता।

उसने सोचा-इसके आते ही घर मे जंग मच गया है। इधर लूट में भी मेरे हाथ कुछ नहीं लगा, अब इसे बेच देना ही

श्रेयस्कर है। गृह का कलह भी मिट जायगा और कुछ पैसा भी हाथ लग जाएगा।

यह नरराक्षस चन्दनबाला को कौशाम्बी के बाजार में ले गया। बाजार के बीच में खडाकर दिया और एक लाख सोनैया उसका मोल निर्धारित कर दिया।

एक सुकुमारी और सर्वांगसुन्दरी राजकुमारी को बाजार में बिकती देख सैकड़ों आदमी जमा हो गए। मगर एक लाख सोनैया की बोली सुनकर सब चुपचाप चले गए, जो तमाशबीन थे, वहीं खड़े रह गये।

उसी समय एक वेश्या उधर से आ निकली, उसने चन्दनबाला को देखकर सोचा—यह लड़की अत्यन्त सुन्दरी है। इसे अगर खरीद लूँ तो मेरा व्यापार चमक उठेगा। एक लाख सोनैया तो एक ही अमीर से वसूल कर लूँगी, इस प्रकार सोचकर उसने एक लाख स्वर्ण मुद्राओं में चन्दनबाला को खरीद लिया। तत्पश्चात् जब वह उसे अपने साथ ले जाने लगी तो चन्दनबाला ने पूछा—माताजी, आप अपना परिचय देने की कृपा कीजिए? तब उस वेश्या ने हँसकर कहा—मेरा परिचय जानना चाहती हो? मेरे यहां बढ़िया खाना-पीना और नित्य नयी पोशाक पहन कर सिंगार करना होता है। अपना और दूसरों का मनोरंजन करना मेरा धंधा है। नाचना, गाना और गुलछर्रे उड़ाना, बस यही मेरा परिचय है।

यह सुनकर चन्दनबाला ने विचार किया—यह वेश्या मालूम होती है और मुझे नरक में जाने का रास्ता सिखाना

चाहती है, इस प्रकार विचार करके उसने प्रकट रूप में कहा-जान पड़ता है, आप वैश्या हैं। मेरा आपके घर जाना कैसे हो सकता है?

मगर वैश्या कब मानने वाली थी? उसने चन्दना के लिए एक लाख मोहरें खर्च की थी और उसे खरीद चुकी थी। वह उस पर अपना अबाध अधिकार समझती थी। अतएव वह चन्दनबाला को पकड़ कर जबर्दस्ती ले जाने लगी।

चन्दनबाला निरुपाय होकर भगवान् की शरण में गई, उसने मन ही मन कहा-भगवन्! तू ही मेरा रक्षक है। तेरे अतिरिक्त इस ससार में कोई मेरी रक्षा करने वाला नही है! अगर तूने मेरी रक्षा न की तो यह वैश्या मेरे शीलधर्म को नष्ट कर देगी। प्रभो! प्रभो!

चन्दनबाला की इस प्रार्थना से शासनदेव का आसन चलायमान हुआ और उसने उपयोग लगाया तो मालूम हुआ-एक वैश्या शीलधर्मवती कन्या का धर्म नष्ट करने के उद्देश्य से उसे घसीट कर ले जा रही है। वह देव उसी समय वदर का रूप धारण करके वहा आया, उसने वैश्या पर हमला करके उसके सारे कपड़े फाड़ दिये और शरीर को चीथ डाला।

बहुत-से लोग यह दृश्य देख रहे थे। उनमें एक धर्मात्मा तथा दयालु सेठ भी था, उसे लड़की पर दया आ गई, लड़की के पास जाकर अच्छी तरह देखा तो अनुमान किया-यह किसी राजा की कुमारी जान पड़ती है कर्मसंयोग से किसी प्रकार विपदा में फँस गई है। इसीसे इसकी ऐसी दुर्दशा हो रही

है। कितने खेद की बात है कि एक कुलीन कन्या शाक-भाजी की तरह बाजार में बेची जा रही है और पतन के पथ पर घसीटी जा रही है।

सेठ ने पुनः विचार किया-मेरे पास धन है और धर्म भी है, पर सन्तान नहीं है। मैं इसे खरीद लूँ तो क्या ही अच्छा हो।

इस प्रकार विचार कर सेठ ने शुद्ध भावना से उस लड़की को खरीद लिया। वेश्या एक लाख स्वर्णमुद्राएँ वापिस पाकर सन्तुष्ट हो गई।

चन्दनबाला ने उस सेठ से भी यही प्रश्न किया—आप कौन हैं और किस उद्देश्य से मुझे खरीद रहे हैं? सेठ ने उत्तर देते हुए कहा—बेटी, मैं जैनधर्म का अनुयायी श्रावक हूँ। बारह व्रतों का परिपालन करता हूं। मैं तुम्हें अपनी पुत्री समझ कर रक्खूँगा। मेरे घर पहुँच कर तुम धर्मपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकोगी। तुम्हारे धर्म में सहायक बनने के इरादे से ही मैं तुम्हें अपने घर ले जा रहा हूँ।

चन्दनबाला को यह उत्तर सुन कर सन्तोष हो गया। उसने सेठ के साथ जाने में आनाकानी नहीं की। सेठ उसे खरीद कर अपने घर ले गया। तब उसकी पत्नी मूला ने चन्दनबाला को देखा। सेठ ने उससे कहा—बाजार में बिकती देख कर मैं इस कन्या को ले आया हूं। इसकी परवरिश करना।

मगर पुरुषों की स्वच्छन्दता से स्त्रियां सदा सशंक रहती हैं। अतएव मूला सेठानी ने सोचा—यद्यपि मेरा पति वृद्ध है,

फिर भी शायद इस पर मोहित हो जाए। लड़की-लड़की कहते कदाचित् मनोभावना बदल जाए और चित में कुवासना उत्पन्न हो जाए। ऐसा हुआ तो मेरी गृहस्थी नरक बन जाएगी। घर की शान्ति नष्ट हो जाएगी। आखिर यह लड़की मेरे घर की सम्पत्ति नहीं, विपत्ति ही है।

मगर मूला सेठानी ने उतावल नहीं की। पति की आज्ञा से वह उसका संरक्षण करने लगी और शंकितभाव से उनके व्यवहार को जांचने लगी। सेठ उसे अपनी लड़की के समान समझ कर व्यवहार करने लगा।

एक दिन की बात है। चन्दनबाला स्नान करके निवृत्त हुई थी। उसके माथे की लम्बी-लम्बी लटें अनियंत्रित रूप से इधर-उधर बिखरी थीं। उसी समय सेठ कहीं बाहर से आए। चन्दनबाला जल लेकर उनके पैर धोने लगी तो उसके बाल उनके पैरों पर पड़ने लगे। सेठ ने अपने हाथ में लेकर उन्हें ऊपर की ओर कर दिया।

यद्यपि यह एक साधारण सी बात थी, मगर मूला के मन में पहले से ही सदेह का भूत घुसा हुआ था, अतएव इस घटना से उसका मन एकदम सशंक हो उठा। चन्दनबाला उसके चित्त में कांटे की भांति चुभने लगी। उसने मन ही मन कहा—यह देख लो, यह देख लो। जो बात मैंने सोची थी, वही आज प्रत्यक्ष देख रही हूँ। इस प्रकार सेठानी को विश्वास हो गया कि सेठ और चन्दनबाला के मन में अवश्य पाप है।

सेठानी ने चन्दनबाला को मार डालने का संकल्प कर लिया। वह अवसर की खोज में रहने लगी।

एक बार सेठ को आवश्यक कार्य से कहीं बाहर जाने का प्रसंग उपस्थित हुआ। तब उसने चन्दनबाला से कहा -'बेटी, मैं दूसरे गांव जा रहा हूं। एक दो दिन में लौटूँगा। तू अच्छी तरह रहना।' उसने सेठानी को भी हिदायत कर दी कि चन्दनबाला को अच्छी तरह रखना। सेठानी ने कहा—हां, मैं इसे बहुत अच्छी तरह रक्खूँगी।

सेठ के चले जाने पर मूला ने विचार किया-मेरे पति बाहर गये हैं और चन्दनबाला को ठिकाने लगाने का इससे अच्छा दूसरा अवसर मिलना कठिन है। विलम्ब करने से अधिक अनर्थ की सभावना है, अतएव जो सोचा है, उसे शीघ्र ही कार्य रूप में परिणत कर लेना चाहिए। उनके आने से पहले ही सब मामला खत्म कर देना चाहिए।

इस प्रकार निश्चय करके मूला सेठानी ने चन्दन बाला को अपने पास बुलाकर कहा—बेटी, तेरे सिर में गूमड़े हो गए है। सिर की सफाई होना आवश्यक है, मैं तेरे सिर के बाल उतरवाए देती हूँ। घर की खेती है, बिना बोये उगती है। इसके लिए चिन्ता नहीं करने की आवश्यकता नहीं।

चन्दनबाला के मन में किसी प्रकार की आशंका नहीं थी। अतएव उसने सेठानी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, शिरो-मुंडन के बाद मूला ने उसके शरीर से अच्छे कपड़े उतरवा कर बुरे कपड़े पहना दिये। हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां

पहना दीं, तत्पश्चात् उसे कमरे में ले जाकर डालकर और चावियां साथ लेकर अपने पीहर को चल दी।

अचानक अपनी इस प्रकार की हालत देखकर चन्दनबाला एकबार अप्रतिम हो गई विचार करने पर भी कुछ समझ न सकी, उसे अपना कोई अपराध समझ में न आया तब उसने विचार किया—

'मेरे अशुभ कर्म काटन का, अच्छा अवसर याया आज।'

अर्थात्—मेरे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म बहुत दिनों से सता रहे हैं, उन्हें निमूल करने का यही अच्छा अवसर है। एकबार इन्हें खत्म कर डालना ही श्रेयस्कर है, जिससे सदा के लिए इनसे पिंड छूट जाए, इस प्रकार विचार करके उसने अपनी आत्मा को समताभाव में स्थिर करके उसी समय तेले की तपस्या अंगीकार कर ली। वह भगवान् के नाम का जाप करती हुई धर्मध्यान में समय व्यतीत करने लगी।

चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर उस समय वहां पधारे हुए थे, वे अपने साधक जीवन में लम्बी २ तपस्याएँ किया करते थे। इस समय भगवान् ने तेरह बोलों का अभिग्रह कर रक्खा था। अर्थात् उन्होंने ऐसा प्रण किया था कि यदि तेरह बातों का योग मिलेगा तो पारणा करूँगा, अन्यथा छह महीने की तपस्या करूँगा।

इस प्रकार अभिग्रह सहित तपस्या करते हुए भगवान् यथासमय भिक्षा के लिए कौशाम्बी में ऊटन करते और द्वार-द्वार

जाकर भिक्षा ग्रहण किये विना ही वापिस लौट आते थे, उनके अभिग्रह की पूर्त्ति नहीं हो रही थी। उनके अभिग्रह के १३ बोल इस प्रकार थे—

रायवर कन्या बधन पड़िया, पग बेड़ी हथकड़ियां।
मस्तक मुंड्यो काच पहिरवा, तप तेला का धरिया॥
कांइक लो जी महावीर स्वामी लो जी॥ टेक॥
खुणे छाजले उड़द वाकला देहली वैठी भांके।
एक पग भीतर एक पग वाहर नैना आंसू नाके॥ कांइक०॥
इणी तरह जोग मिलै तो लेणो आहार ने पाणी।
नहितर म्हारे अभिग्रह छे, छहमासी पचखाणी॥
कांइक लो जी महावीर स्वामी लो जी॥

कर्मों को काटने के लिए भगवान् बारह प्रकार की तीव्र तपश्चर्या कर रहे थे। इस समय प्रभु ने तेरह बोलों का अभिग्रह ग्रहण किया था। वे तेरह बोल यों थे-राजा की कन्या हो, बन्धन में पड़ी हो, पैरों बेड़ियाँ हों, हाथों में हथकड़ियां हों, मस्तक मुण्डित हो, कछोटा लगाये हो, तेले की तपस्या मे हो, छाजले में उड़द के बकले हो, मकान की देहली पर बैठी हो, एक पैर भीतर और एक पैर बाहर हो आंखों से आंसू गिर रहे हों; इस प्रकार तेरह बातों का जहां योग मिलेगा, वहीं मैं भिक्षा ग्रहण करूंगा, अन्यथा छह मास का अनशन करना है।

यों तेरह बोलों का नियम लिया है,
हां नियम लिया है, दुष्कर अभिग्रह धार।
तप करके कर्म हटावना॥
श्री महावीर भगवान् कृपा कर हम घर आवना॥ टेक॥

कौशाम्बी नगरी का उत्तम प्राणी,
हां उत्तम प्राणी ठाणे हैं निज निज द्वार।
प्रभु की भावे भावना ॥ श्री० ॥

तेरह बोलों का अभिग्रह धारण करके भगवान् कौशाम्बी की जनता दर-दर पर भिक्षा के लिए पधारते हैं। वहां के भक्तिमान् श्रावक श्राविकाएँ अपने २ द्वार पर भक्ति और श्रद्धा के साथ आहार योग्य पदार्थ लेकर खड़े रहते हैं। किन्तु भगवान् उन वस्तुओं पर एक दृष्टि डालते हैं और फिर ईर्यापथ शोधते हुए आगे बढ़ जाते हैं, उनके अभिग्रह की कहीं पूर्त्ति नहीं होती। इस सम्बन्ध में कवि ने कहा है—

चन्दनबाला के हाथे पारणा लीना

तर्ज:—श्री नवकार मंत्रजी रो ध्यान धरो ॥
दधिवाहन राजा की पुत्री जाणी, ज्यारी मात हुई धारणी राणी।
भणी गुणी ने रूप रसाला ॥ १ ॥
धन धन धन सत्ती चन्दनबाला ॥ टेक ॥
रूप में अवछरा इन्द्राणी, तिणसु रूप अधिक जाणी।
देह दीपे दीपक माला ॥ धन० २ ॥
चम्पा लुटाणी सत्ती वंध गई, तिहां सेठ धन्नाजी मोल लई।
जोई ज्योरे कर्मतणा चाला ॥धन० ३॥
मस्तक मु डी मूला दुःख दीनो, सती भुवरा माहीं तेलो कीनो।
सेठजी आय काढी तत्काला ॥धन० ४॥
छाजरे बाकुला उड़द तणा, कोई साधु आवे तो देवु भाव घणा।
भुखी तरसी देह सुखमाला ॥ धन० ५ ॥

तर्ज.—तू म्हासे अलगी रहेनी

दिक्षा ले श्री वीर जिनेश्वर, तपस्या कीनी भारी।
तेरा बोल को लीयो अभिग्रह, फिरिया घर घर द्वारी ॥ १ ॥
कांइक लोजी महावीर स्वामी लोजी ॥ टेक ॥

१ रायवर कन्या २ बंधन पड़िया ३ पग वेड़ी ४ हथकड़ियां।
५ मस्तक मुंड्यो ६ कांच धरिया ७ तप तेला को धरिया ॥कांइक० २॥

८ स्वर्ण छाजरे ६ उड़द् बाकुला १० डेरी बैठी झांके।
११ एक पग भीतर १२ एक पग बाहिर १३ नेणा आसु नाके ॥कां०३॥

इसी तरह जो जोग मीले तो, लेणो आहार न पाणी।
नहींतर म्हारे अभिग्रह छे, छे मासी पच्चखाणी ॥ कांइक० ४ ॥

मोतीचूर मगद का लाडू, दाल सेव घेवरिया।
वेसण चकिया है अति ताजी, सोवनसिह केसरिया ॥ कांइक० ५ ॥

दहीवडाने पेठा पकोड़ी, गुंद पाक लो ताजा।
बहु मोण घृत माहीं तरिया, फिणी ताजा खाजा ॥ कांइक० ६ ॥

पेठा पाक जलेबी अकबरी, सेव सुठ सुवाली।
मुरक्यां मुरब्बा अनेक मेवा, ले ऊभा भर थाली ॥ कांइक० ७ ॥

कोई पदमणी प्रेमधरी ने, सज ऊभी सिणगारी।
भांति भांति का भोजन लेई ने, धामे छे गर नारी ॥ कांइक० ८ ॥

सिरा पुड़ी लुच्या लापसी, दाल तणो छे झोरे।
मालपुवा घुर्त का त्यारी, राइता झक झोरे ॥ कांइक० ६ ॥

घड़ा दाल ने मुग्या मुंगड़ा; पापड़ घड़िया वारू।
भांत भांत पापड़ तरणी, ये सब घर के सारू ॥ कांइक० १० ॥

असणं पाणं खाइमं साइमं, चार आहार सुखकारी।
भक्ति भावना कर बहु विध से, जोय रह्या नर नारी ॥ कांइक. ११॥
पांच उंणा छे मह्निना को, इण विध करता स्वामी।
करे पारणो चंदन हाथे, धन धन अन्तर्यामी ॥ कांइक० १२ ॥

तर्जः—श्री नवकार मन्त्रजी रो ध्यान धरो....

एक बोल घटतो जाणी, सत्ती रे नेणा में नहीं देख्यो पाणी।
वीर जिनन्द फिरया ततकाला ॥धन० ६॥

वीर जिणदन जरा दीठा, सती रे रूम रूम लागा मीठा।
मन में हर्ष हुई अपारा ॥ धन० ७ ॥

मैं तो पूर्व भव पाप करिया, म्हारे आंगण आय वीर पाछा फिरिया।
नैणा से नीर वहे परनाला ॥ धन० ८ ॥

वीर जिनन्द पारणो लीधो, जठे देवता मिल महोत्सव कीधो।
रतना की वर्षा हुई ततकाला ॥ धन० ९ ॥

देव तणी दु दभी बाजे, अति आकाश मांही अमर गाजे।
हाथ ककण गल मोती माला ॥धन० १०॥

मूला सुणी ने दोड़ी आई, रखे रतन म्हारा कोई ले जाई।
जोय ज्योरे लोभ तणा जाला ॥धन० ११॥

वीर जीनन्द केवल पाया, जठे देवता सती ने वटाई लाया।
सजम लेई काटया कर्म जाला ॥ध० १२॥

मृगावती ने जयती जाणी, सती रे चेल्या हुई राजा री राणी।
चेल्या हुई भणगुण रसाला ॥ ध० १३ ॥

छत्तीस हजार की हुई गुरुणी, सत्ती उत्कृष्टी कीधी करणी।
सती रूंध दीया आश्रव नाला ॥ध० १४॥
कर्म खपाई सती मुगति गई, जठे जनम जरा अने मरण नहीं।
मेट दीया आवागमण चाला ॥ ध० १५ ॥
पूज्य गुमानचंदजी गुरु पायो, इतो सत्ती तणा गुण मुख गाया।
रतनचद जोड़ी रसाला ॥ धन० १६ ॥

उस समय गृहस्थों के घर मे जो भी प्रासुक एवं निर्दोष वस्तुएँ थीं, वे गहरी श्रद्धा-भक्ति के साथ उन्हें लेकर प्रभु की प्रतीक्षा करते थे। कोई मोतीचूर, कोई दालसेव, कोई कुछ और कोई कुछ लिये खड़ा था। जब भगवान् सन्निकट पधारते तो लोग निवेदन करते प्रभो! अनुग्रह करो; इस निर्दोष भिक्षा को ग्रहण करो और हमे पावन करो। मगर भगवान् मौन भाव से, गम्भीर और शालीन गति से आते और चले जाते हैं। उनके चेहरे पर न उत्सुकता दीखती, न व्याकुलता दृष्टिगोचर होती, न रोष या तोष का ही कोई भाव दिखाई देता सागर की तरह गभीर भाव से वे आते और उसी भाव से चले जाते। जब वे भिक्षा ग्रहण किये बिना आगे बढ़ जाते तो भक्त जन लुटे हुए-से उदास हो जाते थे, पर कोई उपाय नहीं था। अभिग्रह की पूर्ति के अभाव में भगवान् भिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते थे, अभिग्रह की शर्तें सामान्य नहीं थीं।

मुनिराज तपस्या की वृद्धि के लिए और अपने अन्तराय की परीक्षा के लिए भी भांति-भांति के अभिग्रह धारण करते हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व तक ऐसे ऐसे महा तपस्वी हो गये हैं जिन्होंने

कठिन अभिग्रह लिया और जब उसकी पूर्त्ति हुई, तभी उन्होंने आहार ग्रहण किया।

मेवाड़ प्रान्त में रोड़जी स्वामी हो गये हैं। वे उदयपुर में विराजमान थे। वे महान् तपोमूर्त्ति थे। उन्होंने एक बार अभिग्रह धारण किया कि यदि कोई सांड मेरे पात्र में गुड़ की डली देगा तो मैं आहार करूँगा। इस प्रकार का अभिग्रह उन्होंने कागज की एक चिट पर लिख कर अपने पास रख छोड़ा था।

तपस्वी बहुत घूमे और लोगों ने अभिग्रहपूर्त्ति के लिए अनेक समुचित उपाय किये, मगर अभिग्रह ही ऐसा था कि वह पूरा न हो सका। परन्तु एक दिन वे धानमण्डी में होकर जा रहे थे। सामने से एक मदोन्मत्त सांड दौड़ता हुआ आ रहा था। उसे देखकर लोग आगे वालों को बचने की सूचना देते हुए चिल्ला रहे थे – हट जाओ, भागो, भाग जाओ। तपस्वीजी उस सांड के सामने की दिशा में ही जा रहे थे। बगल में एक दुकान में गुड़ की भेलियां रखी हुई थीं। दुकानदार सांड के डर से अन्दर घुस गया था। सांड की दृष्टि गुड की भेलियों पर पड़ी और उसने खिसिया कर उनमें अपना सींग मारा। कुछ गुड़ उसके सींग में उलझ गया। इतने में ही रोड़जी स्वामी भी वहीं जा पहुँचे। उन्होंने दुकानदार से पूछा—यह सांड मुझे गुड़ दे तो लेने की तुम्हारी आज्ञा है। दुकानदार के 'हां' कहते ही उन्होंने अपना पात्र सांड के आगे कर दिया और उसके सींग में लगा गुड़ पात्र में गिर गया। इस प्रकार जब उनका अभिग्रह पूर्ण हो गया तो उन्होंने अभिग्रह वाली चिट खोल कर लोगों को दिखला दी।

इन्हीं तपस्वी रोड़जी स्वामी ने एक वार हाथी का अभिग्रह किया था उसकी पूर्त्ति भी इस तरह आश्चर्यजनक ढङ्ग से हुई थी। अभिग्रह-तपस्या चल रही थी। एक दिन स्वामीजी चले जा रहे थे कि फीलखाने में हाथी बिगड़ गया। वह जंजीरें तोड़ कर वहां से निकल भागा और सूंड लम्बी किये बाजार में पहुँचा। बाजार के लोग इधर-उधर भागने लगे। पर ज्यों ही तपस्वीजी उसके सामने पहुँचे, उसने एक दुकान में से बनी हुई रक्खी जलेबियां सूंड मे पकड़ीं। तपस्वीजी ने अपना पात्र फैला दिया और हाथी ने उसमें वहरा दीं। इस प्रकार उनका वह अभिग्रह भी पूर्ण हुआ। तपस्वीजी ने कागज पर लिखा अभिग्रह बतलाया तो लोगों ने पढ़ा—यदि कोई हाथी मुझे आहार देगा तो मैं पारणा करूँगा।

मेवाड़ में एक तपस्वी वेणीरामजी हो गए हैं। उन्होंने एक वार शाहपुरा में चातुर्मास किया था। उन्होंने बनेड़े मे जैन मन्दिर में चौमासा किया। आषाढ़ मास से ही अभिग्रह सहित तपस्या कर ली थी। उनका अभिग्रह था कि—यहां के राजा की चार पीढ़ियां आकर कहें कि—'वेणीराम वैठ जाओ' तो मैं बैठूँगा, अन्यथा चार महीने तक मैं खड़ा रहूंगा। वे व्याख्यान के समय बैठते, टट्टी-पेशाब के समय भी बैठते, शेष समय में रात-दिन अपने स्थान पर खूँटी पर हाथ रख कर खड़े ही रहते। उन्हें ऐसी कष्टकर स्थिति में देखकर सब लोग यही भावना करते कि महाराज का अभिग्रह पूर्ण हो जाए तो कितना उत्तम हो। मगर वह पूर्ण नहीं हो रहा था।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा और भादवा आ पहुँचा। तब बनेड़ा के राव साहब के मन में आया कि मेरे गांव में साधु

हैं और वे बैठते नहीं हैं। उन्होंने बैठने की जो शर्त मन में निश्चित कर ली है और कागज पर भी लिख रक्खी है, उसकी पूर्त्ति हुए बिना वे बैठेंगे नहीं। तो जब दशहरा आया, उस समय स्वयं रावजी, उनके पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र सवारी में बैठ कर रवाना हुए। सवारी जब मन्दिर के सामने से गुजरी तो उन्हें तपस्वी का खयाल आ गया। उन्होंने सोचा-इसी समय उनसे बैठने को कह देना चाहिए। वे सब को साथ लेकर महाराज के पास पहुँचे और हाथ जोड़ कर बोले—तपस्वीजी महाराज! विराज जाओ अथवा मेरे गाव से निकल जाओ।

यह सुनते ही तपस्वीजी ने अपना लिखा कागज निकाल कर रावजी को दिखलाया और कहा-रावजी साहब, यह मेरी प्रतिज्ञा थी और वह आज पूरी हो गई। तपस्वी का प्रण पूरा हुआ देख रावजी को भी अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

अभिप्राय यह है कि तपस्वी जन तपस्या के साथ साथ और तपस्या के भाव से नाना प्रकार के अभिग्रह किया करते हैं।

तपस्वी छोटेलालजी महाराज मेरे गुरु के गुरुभ्राता थे। उन्होंने संवत् १६७८ में ९८ दिन की तपस्या जयपुर में कर रक्खी थी। उस समय उन्होंने भी अभिग्रह किया था। उसे पूरा करने के लिए हजारों लोगों ने विचार किया, मगर वह एक तेरापंथी भाई के घर पूरा हुआ। उनका अभिग्रह यों था—चार साढ़ हों और वे एक साथ भोजन करने बैठे हों, जिस घर में यह बात होगी वहीं आहार ग्रहण करूँगा।

तो अनेक मुनि ऐसे अभिग्रहधारी हो चुके हैं, जिन्होंने कठिन से कठिन अभिग्रह धारण किए और तपस्या के लोकोत्तर प्रभाव से वे फलित भी हुए। श्रमण भगवान् महावीर के जीवन और उपदेश की ही यह परम्परा है जो अब तक न्यूनाधिक रूप में चली आ रही है।

हां, तो भगवान् ने तेरह बोलों के अभिग्रह के साथ तपस्या कर रक्खी थी। भगवान् कौशाम्बी की गलियों में आहार के लिए भ्रमण करते हैं, परन्तु पूर्ण रूप से तेरह बातों का योग नहीं मिलता और वे आहार ग्रहण किये बिना ही वापिस लौट जाते हैं।

उधर चन्दनबाला भौंयरे में बद होकर परमात्मा का स्मरण कर रही थी। सयोगवशात् सेठ का काम हो गया और वह वापिस लौट आया। उसने दरवाजे में ताला लगा देखा तो चन्दनबाला का नाम लेकर आवाज लगाई। चन्दनबाला ने सेठ की आवाज भौंयरे में सुनी तो धीमे स्वर में उत्तर दिया—पिताजी, मैं भौंयरे मे बद हूं। यह सुन कर सेठ ताला तोड़ घर में घुसा और चन्दनबाला को भौंयरे में से बाहर निकाल कर द्वार पर बिठला दिया। चन्दनबाला का मुण्डित मस्तक और हथकड़ियों-बेड़ियों से जकड़े हाथ पैर देख कर सेठ के नेत्रों से आंसू टपकने लगे। उसने गद्गद कठ से पूछा—बेटी तेरी यह दुर्गति किसने की है?

चन्दनबाला ने मन्दस्वर में कहा—पिताजी, दुर्गति करने वाले तो अपने पूर्वकृत कर्म ही हैं। उनके फलोदय में कोई निमित्त बन जाता है। उस निमित्त के विषय में कुछ कहना नहीं

है। मुझे अभी तो बहुत जोर की भूख लग रही है। कुछ हो तो खाने के लिए दीजिए।

सेठ का हृदय दया से द्रवित हो उठा। उसने कहा--बेटी, मैं बाजार जाता हूँ और तेरी हथकडिया-बेड़ियां तुड़वाने के लिए किसी लुहार को बुला लाता हूँ। हां, तेरे खाने को अभी तो कुछ दीखता नहीं है।

यह कहते ही सेठ ने अपनी दृष्टि इधर उधर दौड़ाई तो चूल्हे पर रक्खा एक बरतन उसे दिखाई दिया। जाकर देखा कि उसमे उड़द के बाकले हैं उबले हुए। वह सूपड़े में कुछ बाकले लेकर आया और बोला—बेटी, अधिक ही भूख सता रही हो तो इन्हें खा ले, अन्यथा बाजार से अभी कुछ ला देता हूँ।

इस प्रकार सूपड़ा चन्दनबाला के पास रखकर सेठ बाजार चला गया। चन्दनबाला मकान के द्वार पर हथकड़ियों-बेड़ियों में जकड़ी बैठी है। उड़द के बाकलों का सूप उसके पास रक्खा है, वह खाने की तैयारी मे है मगर सोच रही है कि कोई सुपात्र आ जाता और उसे देने के बाद खाती तो कितना उत्तम होता।

भाइयों ! चन्दनबाला किस प्रकार उत्तम धर्ममय संस्कारों में पली थी, उसकी भावना कितनी ऊँची थी और हृदय कितना उदार था, यह बातें उसकी इस भावना से प्रकट हो जाती हैं। वास्तव मे पात्र को दान देना गृहस्थ का आदर्श कर्त्तव्य है। वह अनेक विध आरम्भ समारम्भ करके जो भोजन जुटाता है, उसे यदि पात्र को दिये बिना ही भोग लेता है तो यह उसकी हद दर्जे की स्वार्थपरता है। ऐसा भोजन पाप का भोजन कहलाता है।

तो चन्दनबाला जब दान की भावना कर रही थी, अचानक उसी समय भगवान् महावीर का आगमन हो गया, भगवान् को तपस्या करते पाच मास और पच्चीस दिन हो चुके थे। यद्यपि अभिग्रह फलित नहीं हो रहा था, तथापि भगवान् हमेशा पुरुषार्थ करते थे, कई भाग्य के भरोसे बैठ जाते हैं और समझते हैं कि पुरुषार्थ से कुछ होने वाला नहीं है, कुछ लोग भवितव्य का ही भरोसा करके पुरुषार्थ का परित्याग कर देते हैं, गोशालक भवित-व्यतावाद का ही समर्थन करता था और पुरुषार्थ को व्यर्थ बत-लाता था। मगर भगवान् पुरुषार्थवादी थे, वे अनेकान्त के समर्थक थे, अतएव पुरुषार्थ को भी अपने मत में समुचित स्थान था। भगवान् चार ज्ञानों के धारक थे, फिर भी भिक्षा के लिए हमेशा पुरुषार्थ किया करते थे, अभिग्रह के अनुकूल आहार न मिलता तो निराहार ही लौट जाते, मगर यह नहीं कि भिक्षा के लिए निकलना ही बंद कर दें।

भगवान् भिक्षा के लिए चन्दनबाला के द्वार पर पहुँचे, उस समय और सब बातों का योग तो मिल गया, मगर एक बात की कमी रह गई। भगवान् को अपनी ओर आते देख चन्दन-बाला की उदासीनता प्रसन्नता मे पलट गई। उसकी आंखों में आंसू नहीं आए, इस प्रकार तेरह बोलों में से एक बोल की कमी देखकर भगवान् आहार ग्रहण किये बिना ही लौटने लगे।

भगवान् को वापिस जाते देखकर चन्दनबाला को असीम दुःख हुआ। जैसे समुद्र में डूबते को अकस्मात कोई आधार मिला हो और उसका आश्रय लेने से पहले ही वह आधार उससे छिन गया हो। चन्दनबाला ने सोचा—हाय, मैं कितनी अभागिनी

हूं। कल्पवृक्ष मेरे द्वार पर आया, और मैं कोरी रह गई। कु
भी फल न पा सकी। यह सोचकर चन्दनबाला की प्रसन्नता दु
के रूप में बदल गई। उसके नेत्रों से आंसुओं की धारा प्रवाहि
होने लगी और अपने दानान्तराय के लिए अफसोस करने लगी

चन्दनबाला ने विचार किया-मैंने पूर्वजन्म में बहुत प
किए हैं। उन्हीं के फलस्वरूप मेरा गांव छूटा, मेरे माता-पि
छूटे और मुझे सरे बाजार बिकना पड़ा। सेठने दया कर
मुझे खरीद लिया और मैं पराश्रित हुई, फिर भी पापकर्म का अ
न आया। माता ने मेरी यह दशा की इतना सब होने पर भ
भगवान् के पदार्पण से मैं अपने को भाग्यशालिनी समझ सक
थी और समस्त दुःखों को भूल सकती थी, किन्तु यह भी न
हुआ। मेरे पापों ने मुझे इतना सौभाग्य भी नहीं प्राप्त हो
दिया, भगवान् मेरे हाथ से आहार लिये बिना ही और मु
पापिन को तारे बिना ही लौट गए।

इस प्रकार विचार करते ही चन्दनबाला की आंखों
आंसुओं की अविरल धारा बहने लगी।

भगवान् महावीर ने मुड़ कर देखा तो मालूम हुआ
एक बोल की कमी भी पूरी हो गई है, अर्थात् चन्दनबाला
आंखों से आंसू भी बह रहे हैं। इस प्रकार सभी बोलों की पू
होते ही भगवान् पुनः चन्दनबाला के द्वार पर पहुंचे और बोले
'दो, मुझे भिक्षा दो।'

'नमुत्थु णं' के पाठ में भगवान् को अनेक विशेषणों से सम्पन्न बतलाया गया है। उनमें 'लोगहियाणं, अभयदयाणं चक्खुदयाणं, धम्मदयाणं' आदि-आदि अनेक गुण बतलाए हैं। भगवान् लोक के हितकर्त्ता हैं, अभय देने वाले, ज्ञान-नेत्र देने वाले और धर्म देने वाले हैं। तो भगवान् चन्दनबाला के बंधन काटने के लिए और उसे बन्धनमुक्त करने के लिए उसके द्वार पर पहुंच गए। ज्यों ही चन्दनबाला ने अश्रुओं के साथ, भगवान् महावीर को शुद्ध भावना पूर्वक उडद के बाकले देने का विचार किया, त्यों ही शासनदेव ने तत्काल ही उसके हाथों की हथकड़ियां और पैरों की बेड़ियां काट डालीं। अब बन्धनविहीन होकर उसने भगवान् त्रिलोकीनाथ को बाकलों का दान दिया। भगवान् ने भी अत्यन्त समभाव से चन्दनबाला के भक्तिपूर्ण दान को स्वीकार किया। दान देने के साथ ही आकाश में पांच दिव्य प्रकट हुए। अर्थात् आकाश से स्वर्णमुद्राओं की वर्षा हुई, पांच प्रकार के पुष्पों की वृष्टि हुई, वस्त्रों की वर्षा हुई, देवों ने दुन्दुभि का घोष किया और 'अहो दानं, अहो दानम्' की गम्भीर गर्जना से गगनमण्डल गूंज उठा।

धन्य है सती चन्दनबाला, जिसके हाथों से पांच महीना पच्चीस दिनों के पश्चात् त्रिलोकवन्द्य परमपुरुष श्रमण भगवान् महावीर को आहारदान की प्राप्ति हुई और भगवान् को शान्ति पहुंची।

भाइयो! चन्दनबाला ने भगवान् को कोई खीर-खांड का भोजन नहीं बहराया था, सरस और स्वादिष्ट पकवान का दान नहीं दिया था, उबाले हुए उड़द के बाकले जैसे साधारण पदार्थ

का ही दान दिया था, किन्तु उसकी भावना उच्चकोटि की थी। उसकी श्रद्धा और भक्ति अनुपम थी। भावना और भक्ति की उत्कृष्टता ही उस दान की उत्कृष्टता की कसौटी थी। महापुरुष किसी वस्तु के भूखे नहीं होते और दान का उत्कृष्ट फल देय वस्तु के मूल्य पर निर्भर नहीं करता। वह तो भाव का ही अविना-भावी है।

चन्दनबाला को दान के फलस्वरूप पूर्ववत् सुन्दर रूप की प्राप्ति हो गई। लोग चन्दनबाला की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करने लगे। कई लोग सेठ के सौभाग्य की भी सराहना करने लगे, जिसने बाजार मे बिकती हुई धर्मनिष्ठा कन्या के मूल्य को पह-चाना और अपने घर मे पुत्री के समान आश्रय दिया, जिससे उसके धर्म की रक्षा हुई। कई कहने लगे—सेठ को सौभाग्य प्रदान करने वाली यह भाग्यवती कन्या ही है। यह न होती तो सेठ के घर प्रभु का आहार न होता।

भगवान् की पारणा के समाचार विद्युत्वेग से सम्पूर्ण कौशाम्बी में फैल गये। पीहर में बैठी मूला सेठानी ने भी सुना और जब उसे पता चला कि मेरे घर पर स्वर्णमोहरों की वर्षा हुई है, तो उसकी प्रसन्नता का पार न रहा। धन बटोरने के विचार से वह तत्काल घर जाने के लिए खड़ी हो गई। जब उसकी माता ने थोड़ी देर और रुकने को कहा तो वह बोली-मां, घर में सोनैया बरसे हैं। वे इधर-उधर बिखरे पड़े होंगे। क्या पता, कोई उठा ले जाए।

मूला भागी-भागी घर पहुंची। देखा, सारे आंगण में पीला-पीला फर्श-सा बिछा है। यह देख कर उसके दिल की कली कली खिल गई।

चन्दनबाला ने माता को घर में आते देखा तो वह भी सामने आई। मूला सेठानी उसके चरणों में गिर पड़ी और अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमायाचना करने लगी। उसने कहा—बिटिया ! मैंने तुझे बहुत क्लेश पहुंचाया है, मुझे क्षमा कर देना। इतने दिन तक मैं भ्रम में थी। नहीं जानती थी कि तू किस श्रेणी की लड़की है। वास्तव में तेरे प्रति मैंने घोर अन्याय किया है।

माता के पश्चात्तापयुक्त वचन सुन कर चन्दनबाला ने अपने सहज विनम्रभाव से कहा-माताजी ! आपने मुझे जो दिया है, वह मेरे लिए अमर सौभाग्य बन गया है। उसे मैं दुःख कैसे कहूँ ? जिसका परिणाम इतना वाञ्छनीय हुआ, वह दुःख भी परमसुख है। आपने वह दुःख न दिया होता तो त्रिलोकीनाथ को भिक्षा देने का असाधारण सौभाग्य मुझे कैसे मिलता ? अपने घर भगवान् का पदार्पण कैसे होता ? अतएव माताजी ! जो कुछ भी हुआ है, उसके लिए आप लेशमात्र भी पश्चात्ताप न कीजिए। मेरे मन में भी कोई मलाल नहीं है।

यदि मनुष्य विवेकवान् है तो वह सुख की अपेक्षा दुःख में अपने जीवन का अधिक विकास कर सकता है। दुःख में परमात्मा का स्मरण आता है। दुःख के साथ दृढ़तापूर्वक संघर्ष किया जाता है तो आत्मा की शक्ति की वृद्धि होती है। इतिहास पर ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि दुःखों के साथ संघर्ष करने पर ही अनेक महापुरुषों को महत्ता मिली है। अतएव चन्दनबाला ने कहा—माताजी, आप चिन्ता न कीजिए। आपने मेरा महान् उपकार किया है। आपके व्यवहार से ही भगवान् के

अभिग्रह की पूर्त्ति हो सकी है। अतएव भगवान् की पारणा होने का श्रेय आपको ही है।

भाइयो! जिसका विवेक जागृत होता है और जिसकी अन्तरात्मा धर्म के संस्कारों से विभूषित होती है, उसी के मुख से इस प्रकार के उद्गार प्रकट हो सकते हैं। चन्दनबाला के बदले कोई साधारण नारी होती तो वह मूला सेठानी पर घृणा की वर्षा करती और यही कहती कि–तू तो मुझे बन्धन में बांध कर और मौत के हवाले करके चली गई थी! तूने अपनी जान से मेरे प्राण लेने में कोई कसर नहीं रक्खी। मगर मेरा भाग्य बलवान् था, जिससे मैं बच गई और भगवान् को आहारदान देने में समर्थ हो सकी। मेरी बदौलत ही तेरे घर में इतने धन की वर्षा हुई है। चन्दनबाला गुणों की ग्राहक थी। वह प्रत्येक घटना में से कुछ न कुछ अच्छाई ग्रहण करने की ही भावना रखती थी।

हां, तो इस प्रकार सेठानी को आश्वासन देकर और उसे निःशल्य करके चन्दनबाला ने अपने भविष्य का विचार किया। उसने सोचा—इस संसार में मेरा क्या ठिकाना है? राज्य गया, मा-बाप गए, बाजार के बीच में बिकना पड़ा और सेठ के आश्रय में आकर भी कर्मों का फल भुगतना पड़ा। अब इस संसार में मेरे लिए कहाँ स्थान है? स्थान हो तो भी इसमें रह कर जीवन को व्यर्थ नष्ट करना है। भगवान् को केवलज्ञान होते ही मैं भी उनके भी चरणों में भागवती दीक्षा ग्रहण करके और संयम की आराधना करके आत्मोद्धार करूँगी।

समय निकलता गया, चन्दनबाला आनन्द-पूर्वक धर्मध्यान करती हुई अपना जीवन यापन करने लगी।

उधर श्रमण भगवान् महावीर जनपदों में विचरण करते हुए एक समय वर्त्तमान बिहार प्रान्त में, ऋजुबालुका नदी के किनारे, शाम्य नामक गाथापति के खेत में, शालि वृक्ष के नीचे सूर्यास्त से कुछ समय पूर्व, शुक्लध्यान मे आरूढ़ होकर विचर रहे थे, तब उन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति हुई और वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो गए।

भाइयों! अभी कुछ दिन पूर्व, बिहार यात्रा करते हुए मैं उस नदी को अपनी आखों से देखकर आया हूँ। पहले तो केवल शास्त्रों मे पढ़ा ही था, परन्तु उस यात्रा के समय देखने का भी प्रसग आ गया। वहां मैंने प्राचीन काल की बहुत-सी चीजें देखीं, अतीत की स्मृति मे वहां इमारतों तथा मन्दिरों का निर्माण किया गया है।

तो उस नदी के एक किनारे खड़े हुए भगवान् को जब केवलज्ञान की प्राप्ति हुई तो इन्द्रों और देवोंने वहां पहुँचकर ज्ञान-कल्याणक मनाया। भारी महोत्सव किया, भगवान् का प्रथम उपदेश देवताओं की सभा मे हुआ, परन्तु वह खाली गया, क्योंकि उस सभा में देवता ही देवता थे और उनमे त्याग करने की अर्थात् संयम का पालन करने की शक्ति नहीं होती, अतएव किसी ने भी दीक्षा अगीकार नहीं की, तत्पश्चात् भगवान् का दूसरा प्रवचन पावापुरी में हुआ, वहां देवों ने समवसरण की रचना की और देवों द्वारा सूचना पाकर जनसमूह ने भगवान् के मुखार-विन्द से मोक्ष मार्ग को श्रवण किया। उस समवसरण में

भगवान् के पास १४४४ ब्राह्मण पण्डित आए और भगवान् के शिष्य बने, वे लोग यहां सोमिल नामक ब्राह्मण के यहां यज्ञ के निमित्त आए हुए थे। देवताओं को यज्ञस्थल में न आकर भगवान् के समवसरण में जाते देखकर उन्हें ईर्षा हुई और वे भगवान् को शास्त्रार्थ में पराजित करने के विचार से उनके पास पहुँचे, किन्तु भगवान् की परमवीतरागतामयी मुखमुद्रा देखकर, समवसरण की अद्भुत रचना देखकर तथा भगवान् के मुख से अपनी शंका का समाधान प्राप्त करके उनके शिष्य बन गए। इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारहों गणधर इन्हीं ब्राह्मण विद्वानों में थे।

चन्दनबाला को भी, उसकी भावना के अनुसार देवता भगवान् के समवसरण मे पहुँचा गए। तब उसने भी प्रभु की परमपावनी देशना श्रवण करके दीक्षा अंगीकार कर ली। इस प्रकार साधुओं में इन्द्रभूतिजी ने और साध्वियों में चन्दनबालाजी ने सर्वप्रथम दीक्षा अंगीकार की, चन्दनबालाजी बालब्रह्मचारिणी सती हुई हैं।

इस प्रकार मृगावती और जयन्ती तथा राजा श्रेणिक की २३ रानियों ने दीक्षा अंगीकार करके अपने को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दिया और संयमधर्म की आराधना की।

चन्दनबाला प्रवर्त्तिनी पद पाकर आत्मकल्याण के साथ धर्म का प्रचार करने लगीं। जिन जिन साधिकाओं को चन्दनबाला जैसी गुरुणी मिली, वे वास्तव में धन्य-धन्य हो गईं। वे छत्तीस हजार आर्यिकाओं मे प्रधान थीं। भगवान् महावीर के शासन मे ७०० मुनियों ने केवलज्ञान प्राप्त किया और १४०० साध्वियों ने।

तीर्थङ्कर भगवन्तों के साधु-सध्वियों की संख्या पर दृष्टिपात कीजिए तो पता चलेगा कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में धर्मभावना अधिक रही है। प्रत्येक तीर्थंकर के शासन में साधुओं से साध्वियों की सख्या अधिक है। आज भी यही देखा जाता है।

साधु-साध्वियों के सयम की निर्मलता आपके सहयोग की अपेक्षा रखती है। हम चाहते हैं कि हमारा जीवन पवित्र रहे और भगवान् ने साधु समाज के लिए ऐसे ही नियम बनाए है, परन्तु वे नियम आपके ही सहयोग से निर्मल रूप में पाले जा सकते हैं। साधुओं को अनेक आलम्बनों में से गृहस्थ का भी आलम्बन आवश्यक होता है। यदि आपका समुचित सहयोग रहे तो साधु समाज अपने नियमों पर ठीक तरह स्थिर रह सकता है यह ठीक है कि किसी भी समूह में सम्मिलित होने वाले सब व्यक्ति समान नहीं होते, अतएव किसी का पतन हो जाए या किसी मे शिथिलता दृष्टिगोचर हो तो सभी को सरीखा नहीं समझ लेना चाहिए। भले बुरे संसार मे रहे हैं और रहेंगे। आपका कर्त्तव्य है कि जहा कहीं भी आपको शिथिलता दिखाई दे, उसे दूर करने के लिए योग्य उपाय करें, जिससे शासन की पवित्रता स्थिर रहे साधु समाज के चारित्र का ऊँचा स्तर कायम रहे और उस व्यक्ति का जीवन भी पवित्र बने। ऐसा करके ही भगवान् की परम्परा को अक्षुण्ण रख सकते है और जिनशासन के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भलीभांति निभा सकते हैं।

भाइयों ! किसी भी मत की ओर ध्यान दीजिए, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों मे धर्मभाव अधिक देखा जाता है। यहां भी दो

बहिनों ने नौ-नौ की तपस्या की है और पांच ने अठाई की है इस प्रकार तपस्या में इन्होंने आपसे बाजी मार ली है।

रायचूर में उपाध्याय श्री प्यारचन्दजी म० की सेवा में रहे हुए तपस्वी पन्नालालजी म० ३७ दिनों की अनशन तपस्या कर रहे हैं। भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को उसका पूर है। आप भी तपस्या में भागीदार बनें और यथाशक्ति तपस्या करें। स्मरण रखिए कि आत्मा के साथ कर्म लगे हुए हैं और वे संचित कर्म तपस्या के द्वारा ही जला कर समाप्त किए जा सकते हैं। कहा भी है—

भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।

अर्थात्—करोड़ों अतीत भवों में जिन कर्मों का संचय किया गया है, वह तपस्या के द्वारा ही नष्ट किये जा सकते हैं। बिना तपस्या के उनका क्षय नहीं हो सकता।

आपको मालूम है कि महाराष्ट्र में तुकाराम नामक संत हो गये हैं। कहते हैं, वे बड़े दातार और भगवान् की भक्ति करने वाले थे। उनके घर साधु-सन्त पहुंच जाते तो तन-मन से उनकी सेवा किया करते थे।

दातार की प्रशंसा सर्वत्र होती है जो साधु सन्त किसी से आवश्यक वस्तु पाते हैं, अन्यत्र जाने पर और प्रसंग उपस्थित होने पर, आपस में उस दातार की चर्चा करते हैं और उसकी उदारता की प्रशंसा करते हैं। आजकल भी हरिद्वार आदि तीर्थ स्थानों पर मेला लगा करता है और उसमें कभी कभी तो हजारों लाखों साधु एकत्र हो जाते हैं। वहां साधु अन्यान्य बातों के सिवाय दातारों के विषय में भी बातें करते हैं।

तो इस प्रकार संत तुकाराम की चहुँ ओर प्रसिद्धि हो गई और अनेक साधु सोचते—हम भी तुकारामजी के पास जाएँगे, उनकी उदारता देखेंगे और आवश्यक वस्तु उनसे लेंगे।

तुकारामजी की प्रशंसा सुन कर चार साधुओं ने विचार किया—हम उनके यहां अवश्य जाएँगे और चाह लेकर वे प्रयाण करके तुकाराम के गांव में पहुँचे। उस समय सूर्यास्त हो चुका था। और जिस बस्ती में तुकाराम रहते थे, वह कुछ दूर थी, अतएव उन्होंने रात भर धर्मशाला में ही ठहर जाना उचित समझा और प्रातःकाल होने पर उनके घर जाने का निश्चय किया।

प्रातःकाल होने पर चारों ने बस्ती की ओर प्रस्थान किया। उधर तुकारामजी बगल मे धोती दबा कर नदी में स्नान करने के लिए निकले। रास्ते मे ही उन साधुओं से उनका मुकाबिला हो गया। उन्हें देख कर साधुओं ने उनसे पूछा—भाई, सन्त तुकाराम किधर रहते हैं ?

तुकारामजी ने सोचा—आज प्रभात में ही सन्तों के दर्शन हो गये। चलो, बहुत अच्छा। परन्तु उन्होंने अपना परिचय नहीं दिया कि मैं स्वय ही तुकाराम हूँ, जिससे मिलने तुम आए हो।

यदि उनमें बड़प्पन और गांभीर्य न होता तो वे अवश्य ही अभिमान में आकर अपना परिचय देते। परन्तु सन्त तुकाराम वास्तव मे पहुँचे हुए पुरुष थे और उनमें वास्तविक बड़प्पन था। एक कवि ने बड़े का लक्षण बतलाते हुए कहा है—

बड़ा बड़ाई ना करे, बड़ो न बोले बोल।
हीरा मुख से ना कहे, लाख हमारो मोल॥

जौहरी बहुमूल्य हीरे की और रत्नों की कद्र करता है। हीरा या अन्य बहुमूल्य रत्न अपने मुँह से अपनी कीमत नहीं कहते। इसी प्रकार जो बड़े आदमी होते हैं, वे भी अपने मुँह से अपनी प्रशंसा नहीं करते—अपने बड़प्पन का बखान नहीं करते।

हां, तो तुकारामजी ने साधुओं के प्रश्न के उत्तर में यही कहा—साधुओ ! आप यहां से सीधे चले जाइए। सामने जो वृक्ष दिखाई देता है, वहीं उनका घर है।

इस प्रकार सन्त तुकाराम उन्हें अपना पूरा पता बता कर स्नान करने चले गए। साधु उनके बतलाए हुए संकेत के अनुसार ठिकाने पहुँचे। वहां पहुंच कर भी उन्होंने पुनः उनका मकान पूछ लिया और जब निश्चय हो गया कि यही सन्त का मकान है, तब वे उसमें प्रविष्ट हुए। वे एक चबूतरे पर शान्तिपूर्वक विराजमान हो गए।

सन्त तुकारामजी की पत्नी ने कमरे से बाहर निकल कर ज्यों ही चबूतरे पर बैठी चार मूर्त्तियों को देखा, वह मन में अत्यन्त खिन्न हुई। उसने सोचा—घर में इतनी भी सामग्री नहीं कि बाल-बच्चों को भर पेट खिला सकूँ, तिसपर पतिदेव सदैव किसी न किसी को पकड़ कर ले आते हैं। आखिर कब तक ऐसा चलेगा ? और क्यों ऐसा चलना चाहिए ? इतनी बड़ी बस्ती है और इसमें अनेक अमीर बसते हैं। वहां न जाकर ये लोग यहीं क्यों भाग चले आते हैं। आज इन साधुओं को कुछ ऐसा चमत्कार दिखा देना चाहिए कि ये ही नहीं दूसरे भी, भविष्य में आने का नाम न लें। मेरे द्वार आने का कोई साद सही न करे।

इस प्रकार विचार कर उसने चारों साधुओं के निकट आकर साष्टांग नमस्कार किया और पूछा—महात्माओ! कहां से आपका आगमन हुआ है?

साधुओं में से एक ने उत्तर दिया—हम लोग सन्त तुकारामजी की प्रशंसा सुन कर हरिद्वार से आ रहे हैं। उनका दर्शन करने की हमारी अभिलाषा है। उनसे हम अपनी इच्छा भी पूरी करना चाहते हैं।

अन्तिम बात सुनी तो तुकाराम की पत्नी का दिल बैठ गया। वह मन ही मन विचार करने लगी—मेरे पति ने सभी कुछ लुटा दिया है। घर में कोई वस्तु देने योग्य रह भी तो नहीं गई है। न जाने यह कौन-सी इच्छा पूरी करना चाहते हैं। जैसे भी हो, इन्हें सूखा टरकाना ही उचित है।

यह सोच कर वह अन्दर कमरे में गई और एक मूसल लेकर आई। मूसल ओखली में रख दिया। तत्पश्चात् एक रस्सी लाकर वहीं खूंटी पर टांग दी। इतना करके उसने साधुओं से कहा—महात्माओ! आप थोड़ी देर यहीं विराजो। मैं आपके लिए अभी भोजन तैयार करके लाती हूं।

साधुओं ने कहा—ठीक है बहिन! तेरे द्वार पर आए हैं तो भूखे थोड़े ही जाएँगे।

साधु तुकारामजी की पत्नी की विनम्रता और उदारता की प्रशंसा करते हुए निश्चिन्त होकर बैठे रहे।

अब गृहिणी कभी भीतर और कभी बाहर आने-जाने लगी। उसे इस प्रकार बार-बार भीतर-बाहर होते देख साधुओं

के मन में कुछ आशंका उत्पन्न हुई। इसी समय उसने प्रश्न किया—महाराज, क्या आप पहली बार ही यहां आए हैं?

साधुओं ने कहा—हां, हमारे लिए यह पहला ही अवसर है।

गृहिणी बोली—महाराज! क्या बतलाऊँ अपने दुर्भाग्य की बात। मेरे पतिदेव ने पहले साधु-सन्तों की खूब सेवा की, परन्तु अब वे पागल हो गए हैं। जो भी साधु घर पर आ जाता है, उसे रस्सी से बांध कर मूसल की मार मारते हैं।

इतना सुनते ही साधुओं के होश हवास गायब हो गए। उन्होंने पूछा—बहिन! इस समय वे कहां हैं? कब तक प्रकट होंगे?

गृहिणी ने कहा—क्या ठिकाना है उनका। कहीं बाहर निकल गए हैं, परन्तु आते ही होंगे। शायद नदी में स्नान करने गये हों।

चारों साधु आपस में बात करने लगे—जो आदमी अपने को रास्ते में मिला था, वही तो तुकाराम नहीं है? वह तो अब आने ही वाला होगा। अगर हम लोग भोजन के लोभ से यहां डटे रहे तो मार खानी पड़ेगी और हड्डियां तुड़वानी पड़ेंगी। खैर इसी में है कि भोजन का लोभ त्याग कर जल्दी से जल्दी यहां से नौ दो ग्यारह हो चलें।

इस प्रकार निश्चित करके उन्होंने तुकारामजी की गृहिणी से कहा—न जाने तुकारामजी कब तक लौटेंगे। आप कहती हैं कि उनका दिमाग ठिकाने नहीं है, तो उनके लौटने का भी क्या भरोसा है। हमें जल्दी ही दूसरे गांव जाना है। तो हम लोग जाते हैं। फिर कभी अवसर होगा तो उनके दर्शन कर लेंगे।

गृहिणी बोली–क्या आप खाए-पीए बिना ही यहां से रवाना हो जाएँगे।

साधु—भाग्यवती! भोजन तो हम लोग आगे के गांव में जाकर ही करेंगे।

गृहिणी के अनुरोध करने पर भी वे साधु वहां न ठहरे और अपनी जान की खैर मनाते हुए चल पड़े।

सन्त तुकाराम अपनी गृहिणी के स्वभाव से भलीभांति परिचित थे अतएव स्नान आदि नित्यकर्म से जल्दी ही निवृत्त हो गए। उन्हें आशंका थी कि गृहिणी कहीं साधुओं को अपमानित करके निकाल न दे। अतएव जल्दी-जल्दी सब कार्य समाप्त करके वे घर के लिए रवाना हुए। जब तुकारामजी घर पहुँचे तब तक साधु दूसरे रास्ते से जा चुके थे। घर पहुँच कर, साधुओं को न देख कर उन्होंने पत्नी से पूछा—चार साधु यहां आए थे?

पत्नी—हां, आए तो थे।

तुकाराम–फिर कहां गए?

पत्नी–गए, पर यह नहीं मालूम कि कहां गए। कह रहे थे कि दूसरे गांव जल्दी पहुंचना है।

तुकाराम–तू ने ऐसा [illegible] पड़ [illegible] वे मुझसे मिले बिना ही रवाना हो ग[illegible]

[illegible] देव! [illegible] पूर्व [illegible] स[illegible]णांग

नमस[illegible] कहा [illegible] जन[illegible]

तथा [illegible] प वि[illegible]

मगर उन्होंने कहा–हमे अगले गांव में जा कर भोजन करना है। हां, हमे पानी खींचने के लिए रस्सी और तमाखू कूटने के लिए मूसल चाहिए। तब मैने कहा-आप यहीं विराजिए और अपने भक्त के आने का इन्तजार कीजिए। मैं आपके लिए नयी रस्सी और मूसल मँगवा देती हूं। परन्तु वे रस्सी और मूसल लिये बिना ही चले गए।

सन्त तुकाराम बोले यह कौन बड़ी बात थी। यह रस्सी और मूसल दे देती।

पत्नी-मैंने बहुत आग्रह किया कि यही लेते जाइए, मगर वे ठहरे ही नहीं और रवाना हो गए।

यह सुन कर तुकारामजी को बहुत पश्चात्ताप हुआ और वे उस रस्सी-मूसल को लेकर घर से रवाना हुए। सोचा–महात्मा लोग अभी दूर नहीं पहुँचे होंगे। मिल ही जाएँगे और दोनों चीजें उन्हें दे दूंगा।

घर से निकल कर, रास्ते में लोगों से पूछताछ करते हुए वे उन साधुओं के मार्ग का अनुसरण करते हुए जल्दी-जल्दी चले जाने लगे। कुछ दूरी पर जाते हुए चारों साधु उन्हें दिखाई दिए। सन्त ने उन्हें पुकारा कर कहा-महात्माओ ! रुक जाओ। मैं आपके लिए यह रस्सी और मूसल लेकर आया हूं।

तुकाराम की आवाज उन साधुओं के कान में पड़ी, उन्होंने पीछे मुड़कर देखा कि वही सत तुकाराम रस्सी और मूसल लेकर आ रहा है। उन्हें उन की पत्नी के शब्द स्मरण आए और वे भयभीत हो गए, सोचने लगे–अब यह हमे जीवित नहीं जाने देगा। यह

सोचकर वे बड़े तेजी के साथ पैर बढ़ाते आगे जाने लगे, तुकाराम भी उन्हें तेजी से जाते देख बार-बार आवाज देने लगे और पीछे पीछे भागने लगे। यह देखकर चारों साधु भी दौड़ लगाने लगे, कुछ दूर तक आगे-आगे साधु और पीछे-पीछे तुकाराम भागे। अन्त में देखा कि अब साधु को पकड़ना कठिन है, तब निराश होकर वे अपने घर लौटे।

घर लौटने पर उनकी पत्नी ने पूछा—प्राणनाथ! क्या आप रस्सी और मूसल उन्हें दे आए ?

तुकाराम—देता कैसे! बहुत पुकारा मगर वे रुके ही नहीं।

यह तो एक दृष्टान्त है, इसका भाव यह है कि जैसे वे साधु रस्सी और मूसल देखकर भागे, उसी प्रकार तपस्या करने से भव-भवान्तर में संचित कर्म भी आत्मा से दूर हो जाते हैं। संत महापुरुष कितना ही गला फाड़-फाड़ कर उपदेश दें और कहें कि तपस्या करो, आगे के लिए खर्च का प्रबन्ध कर लो, परन्तु मोहग्रस्त आत्माएँ उनकी एक भी नहीं सुनतीं और पापकर्म करने में ही लगी रहती हैं। किन्तु जो भव्य जीव हैं और जिनकी आत्मा निर्मल है, वे तनिक सा निमित्त मिलते ही तपस्या के पथ पर अग्रसर हो जाते हैं, सती चन्दनबाला ऐसी ही निर्मल-आत्माओं में से एक थीं। उन्होंने भगवान् के निकट दीक्षा ली और तपस्या करने में दत्तचित्त हो गई। तपस्या के फलस्वरूप पूर्व-संचित कर्मों का क्षय किया और शाश्वत सिद्धि की अधिकारिणी बनीं।

भाइयों आज सांवत्सरिक पर्व का पावन दिन है। न जाने किस जन्म में कौन-सा पुण्य उपार्जन करने पर आपको यह पर्व

मनाने का अवसर मिला है। यह भी कौन जानता है अगले वर्ष का पर्व मनाने का अवसर मिलेगा या नहीं ? मानव जीवन क्षण विनश्वर है और किसी भी क्षण उसका अन्त आ सकता है। भविष्य पर हममे से किसी का अधिकार नहीं है। अतएव आज जो अवसर मिला है, उसका सदुपयोग कर लो और अधिक से अधिक तपस्या तथा धर्माराधना करो।

आज एक-दो बातें विशेष रूप से कहनी है, पहली बात यह है कि साधुओं ने आपको जिनवाणी सुनाई है-धर्मोपदेश दिया है, उसके उपलक्ष्य में आज आपको कुछ भेंट देनी चाहिए, वह भेंट यह है कि आप या तो दो पौषध करें या साठ सामायिक करें।

दूसरी बात यह है कि आज सन्ध्या के समय आप सब आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करेंगे और आलोचना करके शुद्ध होंगे। बारह महीनों में हुए अपराधों के लिए क्षमायाचना करेंगे, किन्तु यह सब परम्परा का पालन करने के लिए नहीं होना चाहिए। यह क्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसका मूल्य तभी है जब कि उसमे हार्दिकता हो, शुद्ध हृदय से आलोचना, प्रतिक्रमण और क्षमायाचना करके आत्मा को विशुद्ध बनाइए। ऐसा करने से ही आपका परम कल्याण होगा।

७-९-५६
बेंगलोर केन्टोमेन्ट

आलोचना और नमस्कार मंत्र



सिद्धाणं बुद्धाणं० ।

卐卐

भाइयो ! इस समय आप आलोचना पाठ सुनने के लिए एकत्र हुए हैं । आप लोगों को आलोचना पाठ सुनाते हुए मैं स्वयं भी अपने दोषों के लिए 'मिच्छा मि दुक्कड' देकर आत्मशुद्धि करूँगा । श्रावक हो या साधु, और वह कितनी ही सावधानी वर्ते, जब तक शरीर के साथ उसका सम्पर्क है, कुछ न कुछ प्रमाद और त्रुटि अवश्यभावी है । प्रमाद और कषाय ऐसे शत्रु हैं जो किसी भी समय चित्त पर आक्रमण कर बैठते हैं और कभी-कभी अपना आधिपत्य भी स्थापित कर बैठते हैं । उस दशा में चित्त नियंत्रण गँवा देता है और कुपथगामी हो जाता है यही अपराध दोष और त्रुटि होने का प्रधान कारण है । जीव जब तक छद्मस्थावस्था में है, उससे इस प्रकार की त्रुटियां होना अनिवार्य है ।

मगर इस कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिये कि उन दोषों और त्रुटियों का समर्थन किया जाए अथवा उनके

प्रति सहनशील हुआ जाए। त्रुटि प्रत्येक अवस्था में त्रुटि है। दोष दोष ही है। वह एकान्त रूप से हेय है। अतएव जब कभी साधक का चित्त कुपथगामी हो, उसे तत्काल सुपथ पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए, इस लिए यह आवश्यक है की चित्त को कभी स्वतन्त्र न छोड़ा जाए, उसकी सदा चौकसी करते रहना चाहिए।

जब चित्त एकबार कुमार्ग में चला जाता है तो साधक उसे हटाकर सन्मार्ग में लाता है। यही नहीं, वह इस बात का भी प्रयत्न करता है कि आगे कभी उसकी कुमार्ग में प्रवृत्ति न हो। इसके लिए शास्त्रों में अनेक उपाय बतलाए गए हैं प्रायश्चित्त उनमें से एक प्रधान उपाय है। प्रायश्चित्त ग्रहण करने से मन को शिक्षा मिलती है। उससे साधक के संकल्प में दृढ़ता आती है और वह भविष्य में उस दोष या त्रुटि को पुनः न होने देने के लिए विशेष प्रयत्न शील होता है।

प्रायश्चित्त अनेक प्रकार के हैं। अपराध की लघुता गुरुता के अनुसार प्रायश्चित्त में भिन्नता आती है। आज आप जो आलोचना सुनने के लिए उपस्थित हुए हैं, यह भी एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। आलोचना का अभिप्राय यह है कि आज आप जिन दोषों एवं पापों के प्रति घृणा-तिरस्कार का भाव व्यक्त करते हैं, उन्हें सर्वदा के लिए हेय समझकर भविष्यत् में उनका आचरण न करने का संकल्प और प्रयत्न करेंगे, ऐसा होने पर ही आलोचना सार्थक होगा। इसके विपरीत, अगर आप यह सोचेंगे कि संवत्सरी के दिन प्रति वर्ष आलोचना सुनने की प्रथा है और इसी कारण उसे सुनना है और अपने चित्त पर उसका कोई

प्रभाव नहीं होने देंगे और आगे के लिए दोषों से बचने की सावधानी नहीं रक्खेंगे तो कोई विशेष लाभ होने वाला नहीं है।

आलोचना का अर्थ सामान्य रूप से विचार करना होता है। मगर जैनशास्त्रों में अपने दोषों का विचार करने के अर्थ में इस शब्द का व्यवहार होता है। यहां यही अर्थ लेना है। आपको आज अपने कृत दोषों और पापों पर विचार करना है। मैं आपको जो आलोचना सुनाऊँगा, वही सामान्य अर्थात् सामूहिक होगी, मगर विशेष आलोचना तो आपको स्वयं ही करनी होगी।

आलोचना और पश्चात्ताप करने से पूर्वकृत कर्मों के फल की तीव्रता कम होती है और आत्मा शल्यहीन हो जाता है। श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

'आलोयणाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?'

'आलोयणाए ण मायानियाणमिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्ग विग्घाणं अणंतसंसार बंधणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जुभावं च जणयइ। उज्जुभावपडिवण्णे य णं जीवे अमाई इत्थीवेयनपुंसगवेयं च न बंधइ, पुव्वबद्धं च णं णिज्जरेइ।' उ०अ० २६

यहां प्रश्न किया गया है—हे प्रभो! आलोचना करने से जीव को क्या फल प्राप्त होता है?

उत्तर—आलोचना करने से जीव मोक्षमार्ग में बाधक तथा अनन्त संसार का बन्ध कराने वाले माया, निदान और मिथ्यादर्शन शल्यों का उद्धार करता है; अर्थात् आलोचना से यह तीनों शल्य दूर हो जाते हैं और ऋजुभाव-सरलता उत्पन्न होती

है। ऋजुभाव प्राप्त करके जीव माया से रहित हो जाता है और इस कारण स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद का बंध नहीं करता। अगर पहले बांध लिया हो तो उसकी निर्जरा करता है।

भगवान् के इन वचनों से स्पष्ट है कि आलोचना से मोक्ष-मार्ग सम्बन्धी विघ्नों का निवारण होता है और जब विघ्न हट जाएँगे तो मोक्षमार्ग की प्राप्ति अवश्य ही होगी। अब आप सोच सकते हैं कि मोक्षमार्ग की प्राप्ति से अधिक इस संसार में अन्य क्या लाभ हो सकता है?

भाइयो! आलोचना महाफलप्रदायिनी है। यह अभीष्ट की सिद्धि के लिए कल्पवृक्ष के समान है। यही कारण है कि शास्त्रों में इसकी महिमा गाई गई है और इसे साधकों ने अपने साधनाजीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

इस तथ्य को समझ कर आप भावपूर्वक विशुद्ध चित्त से आलोचना करें और अपने दोषों का निवारण करके आत्मशुद्धि करें। ऐसा करने से आपकी आत्मा में अपूर्व ज्योति जागृत होगी।

आपको विदित है कि इस आत्मा ने अनन्त जन्मों में कई प्रकार के पापकर्मों का सेवन करके अपने आपको विविध प्रकार के दुःखों का भाजन बनाया है। इस बार महान् पुण्योदय से आत्मा को मनुष्यजन्म की प्राप्ति हुई है, जिसे पाने के लिए विवेकवान् देवता भी तरसते हैं। मनुष्यजन्म प्राप्त कर लेने पर भी कई प्रकार की बाधाएँ उसके सामने रहती हैं। कोई धर्म-संस्कारों से विहीन अनार्यकुल में उत्पन्न हो जाते हैं कोई परिपूर्ण इन्द्रियों से रहित होते हैं, कोई तीव्र मिथ्यात्व से ग्रस्त होते हैं,

किन्हीं को वीतरागप्ररूपित धर्म की प्राप्ति नहीं होती। इनमें से कोई भी बाधक होने पर मनुष्यभव पाना व्यर्थ हो जाता है। मगर आपका अत्यन्त अहोभाग्य है कि आपको सब प्रकार के अनुकूल संयोग प्राप्त हुए हैं। इन सयोगों की सार्थकता इसी में है कि धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझकर पापों की आलोचना की जाए।

आलोचनापाठ का प्रारम्भ नमस्कारमन्त्र से किया गया है। नमस्कारमन्त्र में पांच पद हैं और उनके द्वारा अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और जगत् के सर्व साधुओं को नमस्कार किया गया है।

कुछ भाइयों की इच्छा है कि नमस्कारमन्त्र के माहात्म्य पर प्रकाश डाला जाए। यह विषय मेरे लिए भी प्रिय है। अतएव इसी सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूँ।

भाइयो! शास्त्रकारों ने नमस्कारमन्त्र का महान् और अद्भुत प्रभाव प्रदर्शित किया है।

भवनपति देवों की दस जातियां हैं और उनमें से प्रत्येक जाति के दो-दो इन्द्र होते हैं। इस प्रकार भवनपतियों के कुल २० इन्द्र हैं। ज्योतिष्क देवों की पांच जातियां हैं और उनमें दो इन्द्र बड़े हैं—चन्द्रमा और सूर्य। सोलह प्रकार के व्यन्तर देवों में ३२ इन्द्र बड़े होते हैं। वैमानिकों में बारह देवलोक हैं और उनमें दस इन्द्र बड़े होते हैं। इस प्रकार चार जातियों के चौंसठ इन्द्र सब देवों में बड़े माने गये हैं, उसी प्रकार सब मन्त्रों में नमस्कारमन्त्र बड़ा माना गया है।

जैसे मनुष्यों में बलदेव, माण्डलिक राजा, वासुदेव और चक्रवर्त्ती को बड़ा माना जाता है, उसी प्रकार नवकारमन्त्र समस्त मन्त्रों में बड़ा है।

मृत्तिका की जितनी भी जातियां हैं, उनमें जैसे पारस पाषाण बड़ा माना जाता है, क्योंकि वह अपने स्पर्शमात्र से लोहे को भी सोना बना देता है इसीप्रकार नमस्कारमन्त्र सब मन्त्रों में श्रेष्ठ माना गया है।

जैसे चार ध्यानों में शुक्लध्यान सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार सब मन्त्रों में नमस्कारमन्त्र श्रेष्ठ है।

जैसे छह लेश्याओं मे शुक्ललेश्या सर्वोत्तम है, उसी प्रकार जगत् के समस्त मन्त्रों मे नवकारमन्त्र सर्वोत्तम है।

जैसे छह प्रकार के संहननों में वज्रऋषभनाराच संहनन बड़ा है, वैसे ही सब मन्त्रों में यह मन्त्र बड़ा है।

जैसे छह संस्थानों मे समचतुरस्र संस्थान बड़ा है, उसी प्रकार सब मन्त्रों में नमस्कारमन्त्र बड़ा है।

जैसे मुनियों में तीर्थंकर भगवान् सबसे महान् हैं, उसी प्रकार सब मन्त्रों में नमस्कारमन्त्र महान् है।

इस प्रकार की ८६ उपमाएँ नमस्कारमन्त्र को दी गई हैं। इन उपमाओं से इस मन्त्र की महत्ता का अनुमान किया जा सकता है। आलोचनापाठ में कहा है:—

अशुभ कर्म के हरण को, मन्त्र बड़ो नवकार।
वाणी द्वादश अंग में, देख लियो तत्त्वसार॥

नमस्कार मन्त्र अशुभ कर्मों को हरण करने वाला है और विशाल द्वादशांग वाणी का तत्त्व रूप सार है। इस मन्त्र के संबंध में अनेक कवियों ने कविताएँ रचकर अपने कवित्व को धन्य बनाया है। उनमें से एक कवि ने इस मन्त्र का माहात्म्य बतलाते हुए कहा है:—

जग में श्री जीवन-जड़ी, पंचनमोकार मन्त्र,
बार-बार जपिये, क्षण न भुलाइए।
सोवत उठत सुख जोवत परदेश जात,
रण में भुयग सिंह देख न डराइए॥
संकट न पड़े भूत व्यन्तर न कोई छले,
अग्निमांहि नहीं जले भवसागर तिर जाइए।
कहत विनोदीलाल जपता हूं तिहुं काल,
जपो नवकार मन्त्र मन वच ध्याइए॥

यहां पंचनमस्कार मंत्र का चमत्कार बतलाया गया है। कवि कहता है-जैसे किसी मरणासन्न मनुष्य का बोल बंद हो जाता है तो उस समय उसे किसी कुशल वैद्य को दिखाया जाता है। वह मरने वाले को सरस्वती-चूर्ण या सोने की गोली घिस कर देता है या हेमगर्भ देता है। जैसे ही वह दवा बीमार के गले के नीचे उतरती है, अपना काम शुरु कर देती है। उससे यह गुण होता है कि नहीं बोलने वाला भी थोड़ी देर के लिए बोलने लगता है। मगर परमेष्ठी मंत्र का चमत्कार कुछ निराला ही है। यह मन्त्र बीमार के कानों में सुना दिया जाय तो वह नहीं बोलने वाला भी, दवा लिये बिना ही, बोलने लगता है और उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो अजर-अमर पद का अधिकारी बन जाता है।

कोई व्यक्ति जंगल में जा पहुँचा है और जंगल भी भयावना है। उसमें शेर आदि खूंख्वार जानवरों का भय है। अचानक कोई सिंह उसके सामने आ पहुँचा है ऐसी स्थिति में यदि वह व्यक्ति इस मंत्र का स्मरण करता है तो उसका भय अकस्मात् ही टल जाता है।

यह मंत्र शल्यों को काटने वाला और मोक्षमार्ग को दर्शाने वाला है। इस मंत्र के चमत्कार के विषय में शास्त्रों में बहुत-सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। इस मंत्र के द्वारा असंभव प्रतीत होने वाले कार्य भी संभव हुए हैं। अनेक श्रद्धावान् जनों ने इससे अपूर्व लाभ उठाया है।

श्रीमती के गले में सर्प डाला गया, परन्तु नमस्कार मंत्र के प्रभाव से वह हार बन गया। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमें शास्त्रों में मिलते हैं।

नमस्कार मंत्र चौदह पूर्वों का ही सार नहीं, सम्पूर्ण द्वादशांगी वाणी का सार है, जैन साहित्य में बारह अंग प्रधान और मूलभूत हैं और उनमें से सत्त्व रूप में निकला हुआ यह मंत्र है।

यह मंत्र अशुभ को हटा कर शुभ को करने वाला है, यह जबर्दस्त रसायन है। यह मंत्रों में बड़ा मंत्र, तंत्रों में बड़ा तंत्र, यंत्रों में बड़ा यंत्र, टोटकों में बड़ा टोटका और जड़ियों में बड़ी जड़ी है।

जिसे इस मंत्र से लाभ उठाना हो, वह श्रद्धा के साथ ही लाभ उठा सकता है।

यद्यपि अशुभ कर्म उदय में आए हैं और दुःखी बना रहे हैं, परन्तु वे इस मन्त्र के प्रभाव से हट जाएँगे और सारे दुःख मिट जाएँगे।

नमस्कार मंत्र में, पांचवें पद में कहा गया है—'नमो लोए सव्वसाहूणं।' अर्थात् लोक में विद्यमान सर्व साधुओं को नमस्कार हो। ऐसा कहने का अभिप्राय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधुओं के अनेक प्रकार और अनेक श्रेणियां होती हैं। कोई जिनकल्पी होते हैं तो कोई स्थवीरकल्पी। कोई पुलाक, कोई वकुश, कोई कुशील, निग्रन्थ और कोई स्नातक, कोई ऋद्धिधारक और कोई अनृद्धिधारक, कर्मों के क्षयोपशम की विचित्रता से उनके संयम-चारित्र में तारतम्य होता है। इस तारतम्य को देखकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि मेरे लिए अमुक प्रकार के साधु ही उपास्य हैं, अन्य नहीं। बल्कि जिनमें साधु का शास्त्रोक्त लक्षण घटित होता है, उन सभी की श्रद्धापूर्वक उपासना करना चाहिए। यह वतलाने के लिए 'सव्व' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

पाप अठारह प्रकार के हैं और उनसे अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। किन्तु यह मन्त्र उन सब पापों को नष्ट करने वाला है।

प्रस्तुत मंत्र सब मंगलों में प्रधान मंगल है, संसार में अनेक मंगल माने जाते हैं। कोई व्यक्ति परदेश जाता है तो मंगल (शुभ शकुन) के लिए दही, गुड़ या इसी प्रकार की कोई अन्य वस्तु खाकर जाता है। शकुन शास्त्रियों ने अलग अलग

दिनों के लिए अलग-अलग मांगलिक द्रव्य बतलाए हैं, एक दिन के लिए जो मांगलिक है शेष दिनों के लिए वह मांगलिक नहीं रहता। इसी प्रकार जल से परिपूर्ण कलश, दूर्वा, अक्षत, पुष्प आदि भी मांगलिक पदार्थ माने जाते हैं। मगर यह मंगलद्रव्य एकान्त मांगलिक नहीं हैं, कभी-कभी अमंगल भी बन जाते हैं। उनसे कल्याण के बदले घोर अकल्याण हो जाता है।

रतलाम में वर्धमानजी पीतलिया बड़े अच्छे श्रावक हो गए हैं। उनके यहां पुत्र का जन्म हुआ। एकबार उसकी वर्षगांठ मनाई गई। उस अवसर पर रतलाम-नरेश को भी आमंत्रित किया गया। वर्षगांठ से एक दिन पहले बालक दुकान में खेल रहा था, किसी ने वर्षगांठ की खुशी में बच्चे को एक रुपया दिया। बच्चा उस समय तक नादान था। उसने उस रुपये को मुँह में डाल लिया, दुर्भाग्य से वह गले में अटक गया, बहुत प्रयत्न करने पर भी वह न निकला और सारी खुशी पर तुषारपात हो गया, बच्चा उसी दिन चल बसा। इस प्रकार लौकिक मंगल अमंगल में परिणत हो जाता है।

मेरा जन्म मन्दसौर में हुआ था। मन्दसौर से तीन कोस की दूरी पर भालोट नामक एक गांव है। वहां हीरालाल नामक एक सज्जन रहते थे। निम्बाहेड़ा में उनका विवाह हुआ। विवाह के कुछ ही दिनों बाद वे अपनी पत्नी को साथ लेकर कपास बेचने के लिए और साथ ही पत्नी को चूड़ा पहनाने के लिए मन्दसौर गए। पत्नी को चूड़ा वाले की दुकान पर बैठा गए। साथ में कोई पड़ौसी भी थे। वे उनसे कह गए—मैं कपास बेच कर आता हूँ, तुम इन्हें चूड़ा पहनवा देना।

हीरालालजी चले गए। मगर जब लौट कर आए तो एकाएक पेट में शूल उठा और उसी शूल में उनके प्राणपखेरू उड़ गए। कितनी शोचनीय घटना है। एक ओर चूड़े के गीत गाये जा रहे थे और दूसरी ओर यह दारुण घटना घटित हो गई। तो संसार में इस प्रकार मंगल में अमंगल हो जाता है।

किन्तु पंचनमस्कार मन्त्र एवं तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म उत्कृष्ट मंगल है। उत्कृष्ट मंगल इसलिए है कि उससे कभी भी और कहीं भी अमंगल नहीं हो सकता। इस मंगल के पश्चात् अमंगल की संभावना नहीं रहती। उसको मना लिया तो फिर किसी को मनाने की आवश्यकता नहीं। मगर आप लोग सन्तों के मुख से मांगलिक सुन कर भी दूसरे मांगलिक शकुन देखते हैं। इसका अर्थ यह है कि आपको इस मंगल पर पूर्णरूप से विश्वास नहीं है। भाइयो! साधु स्वयं मंगलमूर्त्ति होता है, परन्तु आपको श्रद्धा होनी चाहिए।

हां, तो यह पंचपरमेष्ठीमन्त्र सब मंगलों में उत्कृष्ट मंगल है। संसार में जितने भी मंगल हैं, उनमें सब से बड़ा मंगल है। यह महामंत्र सब पापों को नाश करने वाला, सब प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि का दाता और सब तरह से आनन्द देने वाला है।

महाराज श्री चौथमलजी ने इसके माहात्म्य का विस्तृत वर्णन किया है। वे अपनी कविता में कहते हैं—

सन्त्रों में मन्त्र नवकारमन्त्र,
तन्त्रों में तन्त्र हरे दुःख तन का।
जो लेवे धार हो पल में पार,
कर दे उद्धार पापी जन का॥

जो आत्मा पापी से पापी है, उसे भी यदि अन्तिम अवस्था में नमस्कारमन्त्र का ध्यान हो जाय तो उसकी भी सद्-गति हो जाती है। शास्त्र इस सचाई का साक्षी है। भगवान् पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थङ्कर थे। वे कुमार अवस्था में कमठ नामक तापस की प्रशंसा सुनकर अपनी माता के साथ उसके पास गए। वहां जाकर उन्होंने अवधिज्ञान से जाना कि तापस की धूनी में जो मोटा लक्कड़ सुलग रहा है, उसमें एक नाग नागिन का जोड़ा है, जो धुएं से और आंच से झुलस रहा है। तब राजकुमार पार्श्वनाथ ने उस तापस से कहा—महाराज, यह कैसी तपस्या है? दूसरे प्राणियों के प्राण जा रहे हैं और आपकी तपस्या हो रही है।

तापस की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उसकी प्रतिष्ठा को आघात लगाने की किसी में हिम्मत नहीं थी। मगर घोर हिंसा होती देख पार्श्वनाथ चुप नहीं रह सकते थे। उनके उपर्युक्त शब्द सुन कर तापस कमठ एकदम आगबबूला हो उठा। उसने अपनी लाल लाल आंखें ऊपर की ओर चढ़ा कर कहा—नादान कुमार! जरा सोच-समझ कर बोलो। जानते हो, किसके सामने बोल रहे हो।

कुमार ने धीरभाव से कहा—मैं भलीभांति समझ रहा हूँ, मगर इस हिंसा को सहन नहीं कर सकता।

क्रोध से कांपते हुए तापस ने कहा—झूठ, झूठ, यह मिथ्या आरोप है।

कुमार ने तब भी शान्तिपूर्वक उत्तर दिया-हाथ कंगन को आरसी की क्या आवश्यकता है? लक्कड़ फड़वाकर देख लिया जाए। इसमें सांप का जोड़ा जल रहा है।

आखिर लक्कड़ फड़वाया गया। उसके भीतर से नाग-नागिन का जोड़ा मूर्छित अवस्था में निकला। यह देख तापस लज्जित हुआ और लोग उसके प्रति घृणा प्रदर्शित करने लगे। उस घटना से कमठ की दुकानदारी को बड़ा धक्का पहुँचा।

कुमार पार्श्वनाथ ने उस जोड़े को नमस्कारमन्त्र सुनाया। मन्त्र के प्रभाव से नाग धरणेन्द्र और नागिन पद्मावती के रूप में उत्पन्न हुए।

मणिरथ और युगबाहु भाई-भाई थे। दोनों में गाढ़ी प्रीति थी। मगर कर्म की विचित्रता से मणिरथ के चित्त में विकार उत्पन्न हुआ। वह अपने लघुभ्राता युगबाहु की पत्नी मदनरेखा पर आसक्त हो गया। मदनरेखा धर्म को जानने वाली सती स्त्री थी। अनेक उपाय करके भी जब मणिरथ उसे न पा सका तो उस पापी ने अन्तिम उपाय काम में लिया। उसने सोचा-युगबाहु के रहते मदनरेखा मुझे अंगीकार नहीं करती। अगर उसे संसार से मिटा कर दिया जाय तो निरुपाय और निस्सहाय होकर वह मेरे हाथ आ जाएगी। इस प्रकार क्रूरतापूर्ण विचार करके मणिरथ ने धोखे से अपने अनुज युगबाहु को तलवार के घाट उतार दिया।

कामवासना कितनी भीषण है। काम से अंधा बना हुआ मनुष्य कौन-सा अधम कृत्य नहीं कर सकता। जब चित्त वासना

से पूरी तरह कलुषित हो जाता है तब मनुष्य नहीं रहता, पिशाच बन जाता है और नीच से नीच पाप कर बैठता है। मणिरथ ने यही किया। अपने प्यारे छोटे भाई की गर्दन पर तलवार चलाने में भी उसे संकोच नहीं हुआ।

तो युगबाहु का शरीर आहत होकर जमीन पर पड़ा सिसक रहा था। तब असाधारण धैर्य धारण करके सती मदनरेखा ने अपने पति के मस्तक को गोद में रखकर नमस्कारमन्त्र का शरण दिया और कहा—प्राणनाथ ! अब आप इस संसार से विदा हो रहे हैं। कुछ ही क्षणों में यह जीवनलीला समाप्त हो जाएगी। परन्तु ध्यान रखिए, आप अपने मारने वाले के ऊपर लेश मात्र भी क्रोध का भाव न रक्खें और परमात्मा के साथ ही अपने मन को जोड़ दें।

इस प्रकार एक आदर्श रमणी का कर्त्तव्य पालन करके मदनरेखा ने अपने पति की गति सुधार दी युगबाहु मृत्यु के पश्चात् पांचवें देवलोक में जन्मा।

कहने का सार यह है कि नमस्कारमन्त्र में अपूर्व और अलौकिक शक्ति है। वह सभी मंगलों में उत्कृष्ट मंगल है। सब प्रकार से आनन्ददाता है और मोक्षमार्ग को बतलाने वाला है।

जो भव्य जीव शुद्ध हृदय से नमस्कारमन्त्र का जाप करेंगे, वे इस लोक तथा परलोक में सुखी होंगे।

[नोटः—इस प्रवचन के पश्चात् महाराज श्री ने गमनागमन का पाठ पढ़ कर ध्यान करवाया। फिर 'लोगस्स' का पाठ पढ़ा तथा बाबा घुटना ऊँचा करके दो बार 'नमुत्थु णं' का पाठ उच्चारण किया। फिर अठारह पापों का विस्तार कर 'खामेमि सव्वेजीवा' का पाठ पढ़ा। अन्त में दो भजन बोलकर दो घण्टे का कार्यक्रम समाप्त किया। आलोचनापाठ पूर्ण हुआ।]

७-६-५६
बैंगलोर केन्टोमेन्ट

श्रमण-महिमा

सिद्धाणं बुद्धाणं० ।

卐卐

श्रमण भगवान् महावीर इस अवसर्पिकाल के चरम तीर्थंकर हैं। आजकल उन्हीं का शासन चल रहा है। न जाने कितने साहित्यकारों ने भगवान् को अपनी श्रद्धाञ्जलियां प्रदान की हैं, कितने कवियों ने अपनी लेखनी को सार्थक बनाया है और न मालूम कितने भक्तों ने उन्हें भक्तिपूर्वक अपने हृदय के ऊँचे आसन पर आसीन किया है। भक्तिमान् श्रावकों ने उनकी स्तुति का भावपूर्ण गान किया है, आचार्यों ने अपनी जिह्वा पावन की है; यहां तक कि गणधर महाराज ने भी मुक्त कण्ठ से इनका गुणगान किया है। इन्हीं में से पण्डित भागचन्द्रजी भी एक भक्त हैं। इन्होंने भगवान् की स्तुति में एक अष्टक की रचना की है, उसका प्रथम श्लोक इस प्रकार है:—

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः,
समं भान्ति ध्रौव्यव्ययजनिलसन्तोऽन्तरहिताः ।

जगत्साक्षी मार्गप्रकटनपरो भानुरिव यो,
महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु नः ॥

कवि ने भगवान् महावीर की स्तुति कविता में की है। यह सम्पूर्ण कविता संस्कृत भाषा में और शिखरिणी छन्द में है। इसके प्रथम पद्य में बतलाया गया है कि भगवान् का चैतन्य (उपयोग ज्ञान) दर्पण के समान है। जैसे सामने के समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार भगवान् के ज्ञान में तीनों लोकों के संपूर्ण पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं।

यहां भगवान् के ज्ञान को दर्पण की जो उपमा दी गई है, वह एकदेशीय उपमा ही है। मगर भगवान् के ज्ञान के साथ पूर्णोपमा किसी भी वस्तु की सम्भव नहीं है। केवलज्ञान में तीन लोक और तीन काल के समस्त पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। उसकी उपमा नहीं है। वह अनुपम और अतुल ज्ञान है। ऐसी स्थिति में उपमा देने वाले भी क्या करें? कहां से उपमा लाएँ? लाचार होकर उन्हें दर्पण की उपमा देनी पड़ती है।

कवि कहता है—सकल चेतन-अचेतन पदार्थ केवलज्ञान में एक ही साथ प्रतिभासित होते हैं और वे पदार्थ उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य से युक्त हैं। भगवान् सत्य पथ को सूर्य के समान दिखलाने वाले हैं। ऐसे श्रीमहावीर स्वामी हमें दृष्टिगोचर हों।

हमारे सामने यह जो अनन्त और असीम जगत् है, उसके स्वरूप का विचार अनेक ज्ञानियों और सन्तों तथा दार्शनिकों ने किया है। उन्होंने अपनी-अपनी बुद्धि एवं कल्पना के अनुसार इसका विश्लेषण किया है। कइयों ने कई प्रकार की

कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। एक कहता है—वास्तव में यह जगत् कुछ भी नहीं है—शून्य है। जैसे स्वप्न में असत् पदार्थ दिखलाई देते हैं, वैसे ही इस जगत के पदार्थ दिखाई देते हैं। सब भ्रम है, इन्द्रजाल है, वास्तव में कुछ भी नहीं है।

कोई कहता है—नहीं, जगत् शून्य नहीं है। इसमें एक तत्त्व है—चेतन। चेतन के सिवाय और किसी पदार्थ की सत्ता नहीं। जो कुछ दिखाई देता है, सब चेतन ही है। उसी के नाना रूप हमें दीख पड़ते हैं।

तीसरा कहता है—एक ही तत्त्व है, यह बात तो सही है, मगर वह एक तत्त्व चेतन नहीं, जड़ है। जड़ के चार या पांच रूप हैं जो भूत कहलाते हैं। उनके मेल से ही चेतना प्रकट हो जाती है। अतएव मूल पदार्थ एक मात्र जड़ ही है।

इस प्रकार कोई कुछ और कोई कुछ कहते हैं। मगर भगवान् महावीर ने केवलज्ञान से जान कर हमें बतलाया है कि यह जगत वस्तुतः जड़ और चेतन का समूह है जगत् में यही दो मूलभूत तत्त्व हैं। इन्हीं का सारा विस्तार है यह दोनों पदार्थ अपने अपने में अनन्त भेद वाले हैं, अर्थात् जीव भी अनन्त हैं और अजीव भी अनन्त हैं। सब उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वाले हैं। प्रत्येक पदार्थ की पूर्वपर्याय का विनाश होता रहता है, अगली पर्याय की उत्पत्ति होती रहती है, तथापि वे द्रव्य रूप से ध्रुव अर्थात् नित्य हैं। उदाहरणार्थ-एक जीव मनुष्यपर्याय त्याग कर देवपर्याय में जन्म लेता है तो देवपर्याय का उत्पाद हुआ, मनुष्य-पर्याय का विनाश हुआ, मगर जीव रूप से वह नित्य है। पहले

भी जीव था, अब भी जीव है। इस प्रकार संसार के सभी पदार्थों में प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है। इसके बिना किसी पदार्थ की सत्ता ही सम्भव नहीं है। भूतकाल में ऐसा होता रहा है, वर्त्तमान में होता है और भविष्य में होता रहेगा।

जीव और अजीव के निमित्त से नाना प्रकार के पर्यायों की उत्पत्ति होती है। जैसे बीज और जमीन के संयोग से वृक्ष की और स्त्री तथा पुरुष के संयोग से प्रजा की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार नाना प्रकार के संयोगों से नाना प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं। इसी से इस जगत् का कहीं अन्त नहीं दीखता, कहीं सीमा नहीं दिखाई देती। इस प्रकार का संसार का वास्तविक स्वरूप भगवान् ने केवलज्ञान द्वारा जान कर बतलाया है।

भगवान् इस संसार में कैसे थे? कल्पना कीजिए कि अमावस्या की रात्रि है। आकाश सघन मेघों से मण्डित है। घोर जंगल में ऊबड़खाबड़ पगडण्डियां हैं। रास्ते का पता नहीं है। ऐसी स्थिति में पड़े हुए पथिक को कितनी कठिनाई झेलनी पड़ती है? उसे कदम-कदम पर परेशानी होती है, ठोकरें खानी पड़ती हैं, फिर भी ठिकाने लगने की आशा नहीं होती। परन्तु जब रात्रि के पश्चात् प्रभात होता है और पूर्व दिशा में सूर्य की सुन्दर सुनहरी रश्मियां झांकने लगती हैं और मानों आंखों की गई हुई ज्योति वापिस लौट आती है तो मार्ग दिखलाई पड़ने लगता है। इसी भांति भगवान् महावीर भी धर्ममार्ग को दिखलाने वाले सूर्य के समान थे। इसी अभिप्राय से यहां भगवान् को सूर्य की उपमा दी गई है।

तो जिस प्रकार सूर्योदय होने पर गन्तव्य मार्ग अच्छी तरह दिखाई देने लगता है, ठीक उसी प्रकार भगवान् के ज्ञान-सूर्य के प्रकट होते ही जगत् के जीवों को पुण्य और पाप का बोध हो जाता है, धर्म और अधर्म का मार्ग दिखलाई देने लगता है। हे भगवन्! आप इन गुणों से युक्त हैं, अतएव मैं चाहता हूँ कि आप मेरे दृष्टिगोचार हों।

श्रीमत्सूत्रकृतांग सूत्र के छठे अध्ययन की तीसरी गाथा में भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर का इस प्रकार गुणानुवाद किया है:—

खेयन्नए से कुसले महेसी,
अणंतनाणी य अणंतदंसी।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स,
जाणाहि धम्मं च धियं च पेहा॥

अर्थात्—हे प्रभो! आप प्राणी मात्र के दुःखों को जानने वाले हैं। आप जैसा कुशल संसार में दूसरा कोई नहीं है। आप महर्षि हैं। आप अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन से युक्त हैं। संपूर्ण विश्व में आपका यश फैला हुआ है। हे भगवन्! आप मेरे चक्षुपथ में स्थित हो जाएँ।

शास्त्र में चार प्रकार के दर्शन बतलाए गए हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। वस्तु के सामान्य धर्म को जानना दर्शन कहलाता है। आंख के द्वारा सामान्य को जानना चक्षुदर्शन है। चक्षु की देखने की शक्ति बतलाते हुए

शास्त्रकारों ने कहा है कि चक्षु के द्वारा एक लाख योजन से भी ज्यादा दूर की चीज देखी जा सकती है।

आंख के सिवाय अन्य इन्द्रियों से पदार्थ का जो सामान्य बोध होता है, वह अचक्षुदर्शन कहलाता है।

एक निश्चित मर्यादा में रही हुई वस्तु का, इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही, सामान्य ज्ञान होना अवधिदर्शन है।

सम्पूर्ण लोकालोक में स्थित वस्तुओं के सामान्य बोध को केवलज्ञानदर्शन कहते हैं।

भगवान् दर्शनावरण कर्म का क्षय करके अनन्त केवल-दर्शन के स्वामी बने हैं। ऐसे हे प्रभो ! आप मेरे सामने होंगे तो मुझसे कोई बुराई नहीं रहने पाएगी।

भाइयो ! जब कोई मनुष्य किसी प्रकार के आवेश में आकर, कषाय के वशीभूत होकर या प्रमाद के अधीन होकर कोई दुष्कृत्य कर बैठता है और बाद में उसकी सद्बुद्धि जागृत होती है और वह किसी के सामने पश्चात्ताप करता है, तब यही कहता है—क्या करूँ मेरे हृदय से भगवान् निकल गया या राम निकल गया। तो यहां 'नयनपथगामी' का मतलब है—आंखों के सामने, क्योंकि हमें सामने ही नजर आता है, पीछे की ओर नजर नहीं आता। तो जब भगवान् हमारी दृष्टि के सन्मुख हों तो पाप का आचरण नहीं हो सकता। अतएव पापाचार से बचने के लिए आवश्यक है कि भगवान् को अपनी दृष्टि के समक्ष सदैव रक्खा जाए।

विपाकसूत्र आपको सुनाया जा चुका है। पर्युषण पर्वाधिराज के आठ दिनों में अन्तगडसूत्र सुनाया गया। वह भी समाप्त हो गया। अब बारह अंगों में चौथा जो समवायांगसूत्र है, उसी को सुनाने का मेरा विचार है।

श्री श्रमण भगवान् महावीर के पट्टधर गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी अपने ज्येष्ठ शिष्य श्री जम्बू स्वामी से कहते हैं कि–हे आयुष्मन् जम्बू ! मैंने जो अर्थ श्रमण भगवान् महावीर के मुख से सुने हैं, वही तुझे सुना रहा हूँ।

भाइयों। कान में जो शब्द पड़ते हैं, वे जीव के, अजीव के या मिश्र होते हैं। शब्दों का शास्त्रों में लम्बा चौड़ा वर्णन किया गया है। दस प्रकार के सत्यवचन, दस प्रकार के असत्य वचन, दस प्रकार के मिश्र वचन और बारह प्रकार के व्यवहार वचन होते हैं। यह सब ४२ प्रकार की भाषा है। तीर्थंकरों के वचन सत्य और व्यवहार रूप ही होते हैं, असत्य और मिश्र नहीं होते।

तो सुधर्मा स्वामी कहते हैं–हे जम्बू ! मैं तुझे जो कह रहा हूं सो अपनी ओर से नहीं, वरन् भगवान् महावीर के मुखारविन्द से जो सुना है, वही कह रहा हूँ।

वचन की प्रमाणता वक्ता की प्रामाणिकता पर निर्भर है। वक्ता यदि गुणवान् होता है तो उसके वचन भी गुणयुक्त-निर्दोष होते हैं और यदि वक्ता दूषित होते हैं तो उसके वचन भी दूषित होते हैं। अतएव वचनों की परीक्षा के लिए वक्ता की परीक्षा की जाती है। अतएव सुधर्मा स्वामी ने जिनसे सुना है, उनके गुणानुवाद करते हैं, जिससे सुनने वाले पर उनके वचनों की प्रामाणिकता की छाप लग जाए।

शास्त्रों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि तीर्थंकरों के साथ तीन शब्द विशेष रूप से काम में लाये गए हैं–अरहा कोसलिए, पुरिसादानी और समण। इनमें से 'अरहा कोसलिए' शब्द विशेष रूप से भगवान् ऋषभदेव के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'पुरुषादानीय' शब्द भगवान् पार्श्वनाथ के लिए और 'श्रमण भगवान्' शब्द महावीर स्वामी के लिए।

तो महावीर स्वामी के लिए 'श्रमण' विशेषण का प्रयोग किया गया है। 'श्रमण' का अर्थ होता है–'श्राम्यति: इति श्रमण:' अर्थात् जो श्रम करता है, तपस्या आदि अनुष्ठान में उद्यम करता है वह श्रमण कहलाता है वास्तव में श्रम किये विना कोई पदार्थ प्राप्त नहीं होता–कोई भी सिद्धि हासिल नहीं की जा सकती, एक कवि ने भी कहा है—

उद्यम कर रे मानवी, उद्यम पावे ज्ञान।
विन उद्यम रीझै नहीं गुरू धणी भगवान्॥

अरे जीव ! तुझको मानव का शरीर मिला है तो परिश्रम करने के लिए मिला है। यदि परिश्रम किये बिना तू यों ही पड़ा रहेगा तो मनुष्य का जीवन पाना वृथा हो जायगा, यह तेरे लिए कल्याणकारी नहीं है। जगल में शेर रहता है तो वहां उसे भी परिश्रम करना पड़ता है। यदि वह परिश्रम न करे तो उसके मुँह में अपने आप आकर शिकार नहीं पड़ेगा, उसे शिकार की तलाश में जगल में इधर-उधर भटकना पड़ता है, तब कहीं अपना पेट भर पाता है। इसलिए—

उद्यम कर रे मानवी, मत बैठे एक थान।
बिन उद्यम मृगराज के, मुख भख पड़े न आन॥

मानव! उद्यम कर, हाथ पर हाथ रखकर मत बैठ, हाथ पर हाथ रखकर बैठा रहने से तेरे मुख में निवाला नहीं आ जाएगा, यदि तेरी स्त्री तेरे मुख में निवाला रख भी देगी तो भी उसे गले से नीचे उतारने के लिए मुँह को हिलाना पड़ेगा, बिना परिश्रम वह गले के नीचे नहीं उतरेगा और तेरी क्षुधा निवृत्त नहीं होगी।

उद्यम करने से गुरू भी प्रसन्न हो जाते हैं। उद्यमी पुरुष को सर्वत्र सन्मान मिलता है, उद्यम करने से दरिद्रता का नाश हो जाता है। निठल्ले बैठे-बैठे शेख चिल्ली की तरह मंसूबा करने मात्र से किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती। मिलना होगा तो यों ही मिल जाएगा, ऐसी कल्पना करना नितान्त मूर्खता है। ऐसा कभी होने वाला नहीं है।

भगवान् तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञानों के धारक थे। उन्हें मालूम था कि मैं चरमशरीरी हूँ और कर्मों का क्षय करके इसी भव से मोक्ष प्राप्त करूँगा। फिर भी उन्होंने दीक्षा अंगीकार की और कर्म काटने के लिए घोर परिश्रम किया। तब कहीं उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ। तो 'श्रमण' का अर्थ है परिश्रम करने वाला। जो तपस्या आदि आत्मशुद्धिकारक अनुष्ठानों के लिए श्रम करता है, वही श्रमण कहलाता है।

देखिए, भारतवर्ष में विदेशियों की सत्ता स्थापित हुई। फिर अंग्रेजों का राज्य कायम हुआ। उन्होंने इसके लिए बड़ा उद्यम किया, तभी वे अपना राज्य कायम कर सके, अब अंग्रेज चले गए हैं और भारत स्वाधीन हो गया है। फिर भी भारत-

वासियों ने उद्यम करने का जैसा चाहिए वैसा सबक नहीं सीखा है। हां भारतवासी अन्यान्य बातों में उनकी नकल करना तो अवश्य सीख गए हैं, परन्तु मेहनत करने से अब भी जी चुराते हैं। अधिकांश लोगों की हराम का माल खाने की नीयत है, वे मेहनत करके खाना नहीं चाहते। सरदार वल्लभ भाई पटेल ने देश की स्वाधीनता के लिए प्रचंड पुरुषार्थ किया था और अन्तिम समय में वे केन्द्रीय सरकार के गृहमंत्री भी रहे, उन्होंने कहा था पहले मिलों में १४-१४ घंटे प्रति दिन काम होता था, मीलों में काम करने वाले धीरे-धीरे उन्होंने कार्यकर्त्ताओं का एक यूनियन (संघ) बना लिया और उसकी मार्फत मांग की तो १४ घंटे के बदले काम के १० घण्टे हो गए और बाद में आठ ही घण्टे रह गए। मगर वे मजदूर जिसका काम करते थे, खरी मजूरी करते थे, अर्थात् काम के समय में ईमानदारी से मेहनत के साथ काम करते थे और खरी मेहनत का पैसा लेते थे। यदि कोई खरी नौकरी लेकर भी काम से जी चुराता है तो वह हराम का पैसा लेता है। यदि कोई मजदूर दिन में छह घण्टे भी जी लगाकर काम करता है तो किसी चीज की कमी देश को नहीं रह सकती। अतएव जब हाथ पैर मिले हैं तो काम करो परिश्रम करो।

आज विनोबा भावे भूदान, सम्पत्तिदान तथा ग्रामदान के लिए जगह-जगह पैदल घूम कर प्रचार कर रहे हैं। उनका कहना है कि तुम लोग मिहनत करोगे तो धरती माता सोना उगलेगी। तुम मिहनत के साथ जमीन में हल चलाओ खाद डालो और अच्छा बीज बोओ। बाद में तुम्हें अपने परिश्रम का फल जमीन से मिल जाएगा। तुम्हारे पास हल, बीज, पानी वगैरह सब कुछ है, परन्तु मिहनत करने से ही कुछ मिलने वाला है।

तो भगवान् का आदेश है कि ऐ साधक ! यदि तुझे कर्म-बन्धनों को तोड़ना है और आत्मा की अपरिमित विभूति प्राप्त करनी है तो श्रम करना होगा। सांसारिक वैभव हो या आत्मिक, बिना श्रम के कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं। दोनों तरफ श्रम करने की आवश्यकता है। जैसे संसार में श्रम करने पर ही सब कुछ मिल पाता है, उसी प्रकार मोक्षप्राप्ति के लिए भी श्रम करने की अनिवार्य आवश्यकता है। प्राप्त शक्ति और साधनों का तुमने दुरुपयोग किया तो पापबन्ध हो जाएगा और उसी शक्ति तथा उन्हीं साधनों का सदुपयोग किया तो पुण्यबन्ध कर लोगे और फिर बन्धन मात्र से छुटकारा पा सकोगे।

श्रमण भगवान् महावीर ने अपने पूर्वसंचित कर्मों को नष्ट करने के लिए साढे बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण किया था। इसी कारण वह 'श्रमण' कहलाए, इसके अतिरिक्त संसार के समस्त प्राणियों पर उनका समभाव था। कोई उनका गुणगान करे, स्तुति करे, अथवा उन्हें कष्ट पहुँचाए तो भी उन दोनों पर वे समभाव रखते थे। एक के प्रति राग और दूसरे के प्रति द्वेष उन्हें स्पर्श भी नहीं करता था। इस कारण भी भगवान् 'समण' कहलाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रकृष्ट पुरुषार्थ करने से तथा पूर्ण समभाव का सेवन करने से 'श्रमण' या 'समण' पद की प्राप्ति होती है।

'समणेण' के बाद शास्त्रों में 'भगवया' शब्द आता है। जो 'भग' से सम्पन्न हो उसे भगवान् कहते हैं। भग शब्द के यहां छह अर्थ लिये गये हैं। यथा—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः ।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतींगना ॥

अर्थात्—परिपूर्ण ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म एव प्रयत्न इन छह अर्थों का वाचक 'भग' शब्द है। यह जिसमे पाये जाते हैं, वही भगवान् कहलाता है।

भगवान् महावीर में आध्यात्मिक ऐश्वर्य पूर्णता को प्राप्त था और अष्ट महाप्रातिहार्य रूप बाह्य ऐश्वर्य भी अनुपम था। भगवान् के रूप का कहना ही क्या है? उनका स्वर्णवर्ण शरीर असाधारण सौन्दर्य से सुशोभित था, जिसे देखकर देवादि भी चकित हो जाते थे। प्रभु का यश तीनों लोकों मे व्याप्त था। उनकी बाह्य एव आन्तरिक श्री अनुपम थी। धर्म उनके जीवन में मूर्त्तिमान् हो उठा था। उनके प्रयत्न के विषय मे पहले कहा ही जा चुका है। इस प्रकार महावीर स्वामी में 'भगवान्' शब्द का अर्थ पूरी तरह घटित होता है और इसी कारण उन्हें इस आदर-सूचक विशेषण से अभिहित किया गया है।

संसार में वीर पुरुष अनेक प्रकार के होते हैं। उदारता-पूर्वक दान देने वाला दानवीर कहलाता है, युद्ध मे निर्भयतापूर्वक जूझने वाला और शत्रुओं को यमलोक मे पहुँचाने वाला युद्धवीर कहलाता है। इसी तरह अन्य गुणों मे जिसने विशेष उत्कर्ष प्राप्त किया हो, वह उस गुण की अपेक्षा से वीर कहलाता है। परन्तु भगवान् वीर ही नहीं, महावीर कहलाए, क्योंकि वीरता अनुपम थी, असाधारण थी। अन्यान्य वीर पुरुष आए हुए संकटों और दुःखों को धैर्य के साथ सहन करते हैं, पर भगवान् तो दुःखों

और कष्टों को आमन्त्रण देकर बुलाते और उन पर विजय प्राप्त करते थे।

'नमुत्थु णं' में भगवान् को 'आइगराणं' अर्थात् धर्म की आदि करने वाला कहा गया है। यहां आशंका हो सकती है कि धर्म अनादि और अनन्त है। उसकी कभी आदि नहीं होती। भगवान् महावीर से पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके थे और उनके भी पहले अनन्त चौबीसियां हो चुकी थीं। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में चौवीस तीर्थङ्कर होते हैं और वे अपने-अपने समय में धर्म की देशना करते हैं। यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। खुद महावीर स्वामी के समय में पार्श्वनाथ भगवान् की परम्परा के साधु विद्यमान थे और वे धर्मोपदेश देते थे। ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर को धर्म की आदि करने वाले कहना कहां तक उचित है?

इस आशंका का समाधान यह है कि-धर्म दो प्रकार का है—सूत्रधर्म और चारित्रधर्म। यह दोनों ही धर्म पहले से चले आ रहे थे, परन्तु बारहवां अंग दृष्टिवाद तीर्थंकरों के समय तक ही रहता है। बाद में उसका विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार तीर्थंकर भगवन्तों को दृष्टिवाद सूत्र की आदि करने के कारण धर्म की आदि करने वाला कहा जाता है। इस अपेक्षा से भगवान् महावीर भी धर्म के आदिकर्त्ता कहलाए।

संसार में अनेक मत प्रचलित हैं। उनमें से कइयों का कहना है कि यह संसार भगवान का बनाया हुआ है। आर्य-समाजी यही मानते हैं और ईसाई तथा मुसलमान भी यही

कहते हैं और यहां भी भगवान् को आदिकर्त्ता कहा है। यह कहां तक ठीक है ? जिज्ञासु जनों को इस प्रकार की शका हो सकती है। इसके समाधान में कहा जा सकता है कि उनका कर्त्ता कहने का आशय दूसरा है और हमारा आशय दूसरा है। हम अपने आशय को अभी-अभी स्पष्ट कर चुके हैं कि तीर्थङ्कर भगवान दृष्टिवादश्रुत की अपेक्षा से धर्म के आदिकर्त्ता कहलाते हैं। वे सृष्टि के आदिकर्त्ता नहीं कहलाते। सृष्टि अनादि और अनन्त है। उसकी न कभी रचना हुई है और न कभी उसका विनाश ही हो सकता है। तथापि कर्त्तावादियों के मत पर थोड़ा विचार कर लेना उचित होगा, जिससे आपको भी वस्तुस्थिति का पता लग जाय।

जो लोग कहते हैं कि भगवान् ईश्वर ने संसार बनाया, उनसे पूछना चाहिए कि उसने किस जगह बैठ कर ससार बनाया ? जमीन पर अथवा आसमान पर रह कर बनाया ? मगर सृष्टि से पहले आपके मतानुसार न जमीन थी और न आसमान था। फिर आपका सृष्टिकर्त्ता ईश्वर कहां बैठ कर सृष्टि बनाता है ?

कुम्भार जब घड़ा आदि बनाता है तो उसके लिए मिट्टी, पानी, चाक आदि सामग्री इकट्ठा करता है। बिना सामग्री के कोई भी कार्य होता नहीं देखा जाता। तो इस सृष्टि को बनाने के लिए ईश्वर को सामग्री कहां से मिली होगी ? जब सृष्टि ही नहीं थी तब सामग्री कहां से हो सकती है। आखिर पहले कुछ होगा तभी तो कुछ बनाया होगा। शून्य से तो कुछ बनता नहीं है।

अगर यह मानते हो कि सृष्टि की रचना से पहले भी सृष्टि के योग्य सामग्री विद्यमान थी और उसी का उपयोग ईश्वर करता है, तो यही बात हुई कि सृष्टि अनादि है। फिर नये सिरे

से उसकी रचना मानना वृथा ही है। वे उपादान सृष्टि के ही अङ्ग हैं।

इस प्रकार सृष्टि के निर्माण की बात सिद्ध नहीं होती, तथापि थोड़ी देर के लिए तर्क की खातिर यह मान लिया जाय कि ईश्वर जगत् की रचना करता है तो भी अनेक ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं कि जिनसे ईश्वर का स्वरूप अत्यन्त विकृत हो जाता है। जरा विचार कीजिए-ईश्वर ने यदि जगत् का निर्माण किया तो ऐसी विषमतामय रचना क्यों की? रचना करते समय उसे समभाव रखना था। उसने यह क्या किया कि एक को राजा और दूसरे को रंक बना दिया? उस समय जीवों के कर्म तो थे नहीं, फिर ईश्वर ने यह भेद क्यों डाल दिया? कदाचित् कहो कि कर्म थे और उन्हीं के अनुसार राजा-रंक आदि की विषमता हुई तो भी आपका छुटकारा नहीं। ईश्वर को यदि जीवों के कर्म के अनुसार रचना करनी पड़ती है तो वह स्वाधीन नहीं कहला सकता। वह भी कर्माधीन हो जाएगा। इसके अतिरिक्त एक प्रश्न और उपस्थित होता है। वह यह कि जब सारा जगत् ईश्वर के अधीन है तो जीवों की प्रवृत्ति भी उसी के अधीन माननी होगी। अगर ऐसा है तो ईश्वर जीवों को बुरे कर्म करने में क्यों नहीं रोक देता? सर्वज्ञ होने से वह सब कुछ जानता है और सर्वशक्तिमान् होने से चाहे तो रोक भी सकता है और करुणाशील होने से उसे रोकना ही चाहिए। फिर भी यदि नहीं रोकता और जीवों को बुरे कर्म करने देता है और फिर दंड देने को तैयार हो जाता है तो ऐसे ईश्वर को क्या कहा जाय? इससे तो यही जान पड़ता है कि या तो आपका ईश्वर सर्वज्ञ नहीं, या सर्वशक्तिमान् नहीं या फिर करुणाशील न होकर करुणाहीन है।

तात्पर्य यह है कि भगवान् जगत् के कर्त्ता नहीं हैं। जगत अनादि-अनन्त होने से उनका कर्त्ता हर्त्ता मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

तीर्थङ्कर भगवान् कैवल्य प्राप्त होने पर चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करते हैं। तीर्थङ्कर के सिवाय अन्य कोई तीर्थ की स्थापना नहीं करता। श्रीठाणांगसूत्र में कहा है कि तीर्थ चार प्रकार का है—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। भगवान् महावीर तीर्थ के संस्थापक होने से तीर्थङ्कर कहलाते हैं।

भगवान् स्वयं संबुद्ध हैं, अर्थात् स्वयं ही बोध पाये हुए हैं। उन्होंने किसी दूसरे को गुरु बनाकर बोध प्राप्त नहीं किया है। तीर्थङ्कर तीन ज्ञानों से युक्त ही गर्भ में आते हैं। यद्यपि नौ प्रकार के लोकान्तिक देव भगवान् की सेवा में उपस्थित होकर दीक्षा लेने की प्रार्थना करते हैं, मगर यह एक व्यवहार मात्र है। उन देवों की ऐसी परम्परा ही है। अन्यथा जब तीर्थङ्कर दीक्षा ग्रहण करने का विचार करते हैं, उसी समय वे क्यों आते? पहले कभी भी क्यों न आ जाते? उनका आगमन एक प्रकार से भगवान् के वैराग्य की सराहना मात्र है। वास्तव में भगवान् स्वयं ही प्रतिबोध प्राप्त करते हैं।

भगवान् को 'पुरुषोत्तम' भी कहा गया है। संसार में जितने भी पुरुष हैं, भगवान् उन सब में उत्तम होने से पुरुषोत्तम कहलाते हैं। कोई-कोई पुरुष धर्म में उत्तम होते हैं, कोई कर्म में उत्तम होते हैं और कोई भोग में उत्तम होते हैं। चौबीस तीर्थङ्कर धर्मोत्तम हैं। नौ वासुदेव कर्म में उत्तम माने गये हैं और चक्र-

वर्त्ती भोग में उत्तम कहलाते हैं। तीर्थङ्कर भगवान् धर्मोत्तम होने से सर्वोत्तम हैं।

भगवान् को 'पुरिससीहाण' विशेषण भी दिया गया है, जिसका अर्थ है—पुरुषों में सिंह के समान। देखो, जंगल में एक सिंह होता है और वह निर्भय रहता है। एक कवि ने कहा है—

सिंहनी एक ही सुत जने, विपिन गजावनहार।
खरा खरी सौ दस जने, वहे मिट्टी को भार॥

सिंहनी जिंदगी भर में एक ही पुत्र को जन्म देती है, परन्तु वह ऐसा होता है जो उसके समान ही सारे वन को अपनी भीषण गर्जना से थर्रा देता है और जंगल का राजा कहलाता है। गधेड़ी दस पुत्र भी क्यों जनती हो, पर उसे चैन नहीं मिलने पाता। उसे अपने बेटों के साथ-साथ मिट्टी का भार वहन करना पड़ता है और कुमार की मार खानी पड़ती है। इस प्रकार सन्तानें तो अनेक होती हैं, परन्तु दुनियां की दृष्टि में और जबान पर कोई-कोई ही आती है, जो अपने जीवन को आदर्शमय बनाती है। भगवान् सिंह के समान निर्भय होते हैं। वे जिधर भी चले जाएं उधर ही निर्भयता है।

एकबार भगवान् अपने कर्म काटने को जा रहे थे। लोगों ने उन्हें जाते देख कहा—भगवन्! इस मार्ग से न जाइए, आगे एक विषधर है, जिसकी दृष्टि पड़ने मात्र से जीव प्राणरहित हो जाता है। वह अतीव भयकर है। कितने ही प्राणियों को उसने यमलोक पहुंचा दिया है।

भगवान् ने संकेत करके कहा—घबराओ मत, सब ठीक हो जायगा।

भाइयों! भगवान् भययुक्त थे, वे अपनी धीर और गंभीर गति से विषधर की बाबी के पास जा पहुंचे और वहीं कायोत्सर्ग करके खड़े हो गए। सर्प बाबी से बाहर निकलता है और क्रोधावेश में आकर भगवान् के अगूठे में डश देता है, फिर भी भगवान् उसी शान्त मुद्रा में स्थित हैं, उनके नेत्र सर्प के प्रति करुणा से किंचित् आर्द्र हो उठते हैं। अगूठे से खून के बदले दूध की सी धार वह निकलती है।

सर्प चकित और विस्मित रह जाता है, विचार करते करते उसे जाति स्मरण ज्ञान की प्राप्ति होती है। वह अपने पूर्वभव को जान लेता है, उसे ख्याल आता है कि पूर्वभव में मैंने कठिन तपस्या की थी, मैं साधु था। परन्तु क्रोध के कारण ही मेरी यह दुर्गति हुई है। इस जन्म में मैं पुनः घोर पाप का आचरण कर रहा हूँ।

इसी समय भगवान् ने वाणी का अमृत बरसाते हुए कहा–चण्डकौशिक! समझो, अब भी बोध प्राप्त करो, कब तक भान भूले रहोगे।

चण्ड कौशिक भगवान् की दयादृष्टि से बोध को प्राप्त करके अपने जीवन को सुधार लेता है।

तो कहा गया है कि सिंह पशुओं में इन्द्र है और वह अकेला ही निर्भयता के साथ जंगल में रहता है, उसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी अकेले ही चारित्र ग्रहण किया था और

अपने साधक जीवन में अकेले ही विचरण किया था, अतएव वे पुरुषों मे सिंह के समान थे।

भगवान् को 'पुरिसवर पुंडरीयाण' कहा गया है, अर्थात् भगवान् पुरुषों में पुण्डरीक कमल के समान हैं। रायपसेणियसूत्र मे कमल की अनेक जातियां कही गई हैं, पुण्डरीक कमल उनमें सर्वोत्तम होता है किसी सरोवर मे कमल छाये हों और उनमें पुण्डरीक कमल भी हो तो उस जलाशय की शोभा अधिक बढ़ जाती है। इसी प्रकार भगवान् संसार में पुण्डरीक कमल के समान उत्तम होते हैं। जैसे कमल मे उत्पन्न होकर भी पानी से अलग रहता है, उसी प्रकार भगवान् तीर्थंकर भी काम रूपी पंक में जन्मे और भोग रूपी जल में वृद्धि को प्राप्त हुए, फिर भी काम-भोगों से अलिप्त ही रहे।

उत्तराध्ययन सूत्र के २५ वें अध्ययन में जयघोष और विजयघोष का वर्णन आया है। वहां बतलाया गया है कि उन दोनों भाइयों में से एक तो साधु बन गया और एक याज्ञिक बन गया। जब विजयघोष यज्ञ करवा रहा था, बहुत से ब्राह्मण पण्डित उसमें भाग लेने को आए हुए थे और उन्हें खिलाने के लिए उत्तम भोजन सामग्री बनाई थी, उसी समय जयघोष मुनि भी भिक्षा के लिए उस यज्ञमंडप में पहुंच गए। उन्होंने भिक्षा की याचना की, परन्तु विजयघोष ने भिक्षा देने से इन्कार कर दिया, वार्त्तालाप होने पर विजयघोष ने जयघोष मुनि से पूछा—आप यह बतलाइए कि ब्राह्मण किसे कहते हैं? तब मुनिराज ने उन्हें ब्राह्मण का स्वरूप बतलाया। कहा —

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥

उत्तराध्ययन, २५-२७

अर्थात् जैसे कमल पानी मे पैदा होता है, फिर भी पानी से लिप्त नही होता, उसी प्रकार कामभोगों मे जो लिप्त नहीं होता है, जिसकी वृत्ति रूक्ष होती है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

तो जाति से ब्राह्मण कहलाना एक बात है मगर सच्चा ब्राह्मण तो वही है जिसमें ब्राह्मणोचित गुण पाये जाएँ।

तो भगवान् को पुण्डरीक के समान कह कर यह सूचित किया गया है कि वे संसार मे लिप्त नहीं होते। जैसे पुण्डरीक का वर्णन शुक्ल होता है, उसी प्रकार भगवान् शुक्ललेश्या और शुक्लध्यान से सुशोभित होते हैं।

'पुरिसवरगंधहत्थीणं' भी भगवान् का विशेषण है, हाथियों में ऐरावत हाथी जो प्रथम देवलोक के अधिपति शक्रेन्द्र का होता है, उत्तम माना गया है। यों तो वही भी एक प्रकार का देव ही है, मगर जब शक्रेन्द्र को आवश्यकता होती है, तब वह देव हाथी का रूप बनाता है और सवारी के काम आता है उसके मुकाबिले में अन्य हाथियों का रूप नहीं होता। मगर गन्धहस्ती की उपमा दी गई है। जिस हाथी के शरीर मे से विशेष प्रकार की गन्ध निकल कर फैलती है, वह गंधहस्ती कहलाता है। दूसरे हाथी उसका पराभव करके उसकी हथिनियों के स्वामी बनने की अभिलाषा करते हैं और उसका पराभव करने के लिए उसकी ओर जाते भी हैं, मगर ज्यों ही उसके शरीर की गंध उनकी नाक

को स्पर्श करती है, वे भयभीत होकर भाग जाते हैं। उस समय भगवान् की अत्यधिक ख्याति फैली हुई थी, उसे सहन न कर सकने वाले कितने ही अभिमानी वादी उनका पराभव करना चाहते थे और वाद करके उन्हें पराजित करने की इच्छा करते थे, किन्तु जब उनके निकट पहुंचते और उनकी सौम्य और साथ ही तेजोमय मुद्रा देखते तो हताश और निराश हो जाते थे। अहंकार गलकर पानी बन जाता। यहां तक कि भगवान के चरणों में प्रणत होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लेते थे।

गोशालक भगवान् महावीर से पृथक् होकर अपने को तीर्थंकर घोषित कर चुका था। एक बार कुछ साधुओं से उसकी भेंट हुई। भगवान् के सम्बन्ध में बात चली। गोशालक से कहा गया कि आप श्रमण भगवान् महावीर से वाद क्यों नहीं कर लेते? तब गोशालक को अपने मुख से कहना पड़ा—नहीं मैं उनके साथ वाद नहीं कर सकता। जैसे कुशल शिकारी किसी पक्षी को पकड़ लेता है तो वह कितना ही पंख फड़फड़ाए, छूट नहीं सकता। इसी प्रकार भगवान् के साथ वाद करके कोई भी वादी विजयी नहीं हो सकता। वे बात-बात में उसे निरुत्तर कर देते हैं।

एक बार मैंने पूज्य खूबचन्दजी म० के साथ ब्यावर में चौमासा किया था। वहां कई लोग कहते-ऐसा है, वैसा है। तब मैंने उनसे कहा—आप जैन दिवाकर चौथमलजी म० के पास जाइए। तब वे कहने लगे—उनके सामने तो बोलने का साहस ही नहीं होता। तो जब जैनदिवाकरजी महाराज में ही इतना अतिशय था तो भगवान् महावीर के अतिशय का क्या कहना है।

हां, तो भगवान् को गन्धहस्ती की जो उपमा दी गई है, वह इस अभिप्राय से कि उनके यश की सुगन्ध अखिल लोक में फैली हुई थी और दूसरे प्रबल से प्रबल वादी भी उनका सामना नहीं कर सकते थे।

इन्द्रभूति आदि ग्यारह ही गणधर ब्राह्मण पण्डित थे। उनमें से किन्हीं-किन्हीं के पास तो पांच-पांच सौ शिष्य अध्ययन करते थे। परन्तु जब इन्द्रभूति आदि भगवान् महावीर के निकट क्रमशः चर्चा करने आए तो भगवान् का तपस्तेज देखकर और ज्ञान को जान कर शिष्य बन गए। उन सब के शिष्य भी भगवान् के शिष्य बने।

भगवान् चौरासी लाख योनियों में रहे हुए समग्र जीवों के नाथ थे। आपको अनाथी मुनि का जिक्र कई बार सुनाया जा चुका है। जब श्रेणिक राजा उनके पास गया और उसने उनसे दीक्षा लेने का कारण पूछा तो मुनिराज ने उत्तर दिया–मैं अनाथ था।

श्रेणिक बोले—आप और अनाथ ! आश्चर्य है। अच्छा मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप मेरे साथ चलिए। राजमहल में आपकी सब प्रकार की सुव्यवस्था करा दी जाएगी।

मगर मुनिराज बहुत विचक्षण थे। वे कहने लगे–राजन् ! तुम स्वयं अनाथ हो। मेरे नाथ कैसे बनोगे ?

श्रेणिक—शायद आप मुझे पहचानते नहीं, इसी कारण अनाथ कह रहे हैं। मैं मगध के विशाल साम्राज्य का अधिपति हूँ। मेरा भरा-पूरा परिवार है। विशाल सेना का स्वामी हूं। ऐसी स्थिति में आपके मुख से असत्य तो नहीं कहा जा रहा है।

मुनिराज ने कहा—राजन्! अभी तक तुम सनाथ और अनाथ का भेद नहीं समझते।

मुनिराज के मुख से इस प्रकार के रहस्यमय वचन सुन कर राजा श्रेणिक विचारमग्न हो गया। सोचने लगा—आज तक मुझे ऐसा किसी ने नहीं कहा। इनसे इसका अर्थ समझना ही चाहिए। यह सोच कर वह आसन जमा कर बैठ गया और मुनिराज ने सनाथ-अनाथ का विवेचन करते हुए कहा राजन्! मैं कौशाम्बी नगरी का निवासी हूँ। एक बार मेरे शरीर मे भयकर बीमारी उत्पन्न हो गई। माता-पिता ने बहुतेरी चिकित्सा करवाई। कुशल से कुशल चिकित्सक आए। मगर मुझे तनिक भी शान्ति न मिल सकी। मेरे भाई, बहिन, स्त्री आदि सभी कुटुम्बी जन दुःखित थे और मुझे स्वस्थ देखना चाहते थे मगर किसी की कुछ भी नहीं चली। मैं उनकी तरफ से अनाथ था, क्योंकि वे मेरी रक्षा करने मे समर्थ नहीं थे।

यह सुन कर राजा ने प्रश्न किया—फिर आप निरोग कैसे हो गए?

उस समय मेरे मन में विचार आया—मेरा मित्र बार-बार कहता था कि अब कुछ आत्मार्थ करने का समय है। धर्म की आराधना कर लो। मगर मैं उसकी बात टालता रहा। आज इस विषम स्थिति मे पड़ गया हूँ। यदि मैं इस बीमारी से मुक्त हो जाऊँगा तो अवश्य संयम धारण कर लूँगा।

ऐसा विचार करते ही मुझे नींद आ गई। नींद में मुझे स्वप्न आया और मेरे मित्र देवता ने कहा—यदि तू साधु बन जाएगा तो ठीक हो जाएगा।

मैंने उसी समय स्वप्न में दृढ़ संकल्प कर लिया कि यदि मेरी बीमारी मिट गई तो तीर्थङ्करों द्वारा प्ररूपित सयमधर्म की आराधना करूँगा।

मेरे इस सत्संकल्प ने मेरा वेदना शान्त कर दी। दूसरे ही दिन मैं साधु बन गया। इस प्रकार मैं अनाथ से सनाथ हो गया हूं। अब मैं छह काया के जीवों की रक्षा करता हूं और सुखी हूँ।

मुनिराज का वृत्तान्त सुन कर सम्राट् श्रेणिक ने अनाथ-सनाथ का भेद समझा और वह स्वयं अपने को अनाथ अनुभव करने लगा।

यदि साधु का वेप ले लिया तब भी क्या है। यदि वेप के अनुकूल आचरण नहीं किया और उसे भलीभांति नहीं निभाया तो वेप भी रक्षा नहीं कर सकता। गुणी ही इसकी कद्र करता है। देखो, जौहरी के हाथ में काच और मणि दोनों जाते हैं। वह कीमती मणि को ग्रहण कर लेता है उसके गुणों के कारण और काच को फेंक देता है। इसी प्रकार जो साधु बनकर पांच समिति और तीन गुप्ति की रक्षा करता है, वह सनाथ है, अन्यथा वह भी अनाथ है।

भव्यो! मैंने तो संक्षेप में सानथ-अनाथ का अर्थ समझाया है, परन्तु स्व० पूज्य जवाहरलालजी म० ने इस विषय पर १२० दिन तक विवेचन किया था।

सो भगवान् लोक के नाथ हैं। जो रक्षा करता है वह नाथ कहलाता है। भगवान् ने ८४ लाख जीवयोनियों के जीवों की

मन, वचन और काया से रक्षा की है, इसी कारण उन्हें 'लोग-नाहाणं' अर्थात् लोक के नाथ जैसा महान् विशेषण दिया गया है। कोई घर का नाथ, कोई समाज का नाथ, कोई जाति का नाथ और कोई देश का नाथ कहलाता है, मगर भगवान तो तीनों लोकों के नाथ हैं। उन्हें चाहे त्रिलोकीनाथ कहो, चाहे लोकनाथ कहो, एक ही बात है।

भगवान को 'लोकहियाणं' भी कहा गया है। अर्थात् समस्त संसार में जितने भी जीव हैं यानी अनन्तानन्त जीव हैं, उन सब की हितभावना उनके हृदय में समाई हुई है। उनकी समस्त प्रवृत्ति लोक के प्राणियों के हित के लिए ही होती है।

अरिहन्त भगवान् जब तक तेरहवें गुणस्थान में रहते हैं, तब तक सयोगी होते हैं। इस गुणस्थान में भी योग विद्यमान रहता है। तथापि केवली होने से वे मन के द्वारा चिन्तन मनन नहीं करते। उन्हें इसकी आवश्यकता ही नहीं होती। वे केवलज्ञान से सभी कुछ जानते और केवलदर्शन से सभी कुछ देखते हैं। योग के निमित्त से उन्हें कर्मबन्ध भी होता है, परन्तु कषाय न होने से बद्ध कर्मों में स्थिति और अनुभाग की उत्पत्ति नहीं होती। अतएव प्रथम समय में कर्म बँधते हैं, दूसरे समय में भोगे जाते हैं और तीसरे समय में उनकी निर्जरा हो जाती है। उनको वेदनीय कर्म भी होता है, मगर सातावेदनीय ही होता है।

सो कहने का प्रयोजन यह है कि भगवान् प्राणिमात्र का हित करने वाले थे। जगत के समस्त प्राणियों पर उनका समभाव था। जैसे सूर्य समान रूप से सभी को प्रकाश देता है, इसी प्रकार भगवान् की प्रवृत्ति भी सब जीवों के हित के लिए होती

है। प्रभु की वाणी भी जीवमात्र के कल्याण के लिए होती है। जो उसे श्रवण करते हैं और उस पर श्रद्धा करते हैं, उनका उद्धार हो जाता है। मगर पुण्य के प्रभाव से ही जिनवाणी कानों में पड़ती है। जिनके पुण्य का योग नहीं है, उन्हें जिनवाणी के श्रवण का भी योग नहीं मिलता।

तो भगवान् ने प्राणि मात्र का हित किया है और हित का ही उपदेश दिया है। इसलिए मैं भी भगवान् की वाणी को कभी शास्त्र रूप से, कभी प्रार्थना के रूप से और कभी चरित्र रूप से आपके सामने रख रहा हूं। उसे किसी भी रूप में प्रस्तुत किया जाय, आखिर जिनवाणी तो जिनवाणी ही है। गेहूं तो वही होता है, मगर उसकी रोटी बनाने वाली की चतुराई चाहिए। एक बहिन चतुर है और वह चतुराई से रोटी बनाती है तो उसे देख कर खाने वाले की तबियत खुश हो जाती है। और किसी के हाथ की बनी भद्दी रोटी देखकर ही भूख भाग जाती है। इसी प्रकार वक्ता का ढङ्ग यदि अच्छा हो तो श्रोताओं का चित्त प्रसन्न हो जाता है, और उस बात को वे हृदय में धारण कर लेते हैं।

आज के युग में साधारण जनता को कथानुयोग प्रिय लगता है और यह जो शास्त्र चालू किया है सो कथानुयोग का नहीं है, गणितानुयोग का है। इस समवायांग सूत्र को हरेक साधु नहीं सुना सकता। ठाणांग और समवायांग सूत्र का ज्ञाता सूत्रस्थविर माना गया है। मुझे इसका ज्ञान पूज्य खूबचन्दजी म० के द्वारा मिला है। वही आपके सामने रख रहा हूँ।

आपको यदि तिजोरी दे दी जाय और चाबी भी दे दी जाय, परन्तु उसे खोलने की बुद्धि न दी जाय तो तिजोरी खो

और चाबी देना व्यर्थ है। आज ऐसा युग आ गया है कि साधुओं ने परिश्रम करके शास्त्रों का कई भाषाओं में अनुवाद कर दिया है। जिसे भाषा का ज्ञान होगा, वह उसे पढ़ भी लेगा। परन्तु पढ़ लेना और बात है परन्तु उसका पूर्ण रूप से मर्म समझ लेना और बात है। यह बहुत मुश्किल है। गुरु को मालूम होगा तभी तो वह गूढ़ रहस्य बताएँगे। यदि गुरु को ही मालूम न होगा तो फिर वह रहस्य कहां से समझ में आएगा? तो यहां बुद्धि की अल्पता, स्मरणशक्ति की कमी आदि कारणों से बहुत-सा श्रुतज्ञान विच्छिन्न हो गया है। बहुत से पुराने शास्त्रों को पहले के साधु कंधे पर, लेकर चलते थे, परन्तु आज वे शास्त्र भण्डारों में दाखिल हो गए हैं। लोगों की पढ़ने की रुचि थोड़ी हो गई है। आज उनकी व्याख्या पढ़ने का शौक कम हो गया है। तो स्व० पूज्य जवाहरलालजी म० के व्याख्यानों को लीजिए, जैनदिवाकरजी म० के व्याख्यानों को लीजिए, लीलावतीजी तथा कविजी म० के व्याख्यानों को लीजिए। इन सब व्याख्यानों की पुस्तकें सामने आई हैं और जनता उन्हें बड़े प्रेम से पढ़ती है, यहां भी इसी विचार से व्याख्यान लिखवाए जा रहे हैं। तो जब ये व्याख्यान प्रकाशित होंगे और लोगों को प्राप्त होंगे तो वे अपने घरों में बैठे हुए भी इन्हें पढ़ कर आनन्द ले सकेंगे। लोग पुस्तकें तो घर में भी पढ़ लेंगे परन्तु हर समय महाराज को कहां से लाएंगे?

आज के युग में साहित्य की बहुत जरूरत है। महात्मा तिलक ने तो यहां तक कहा है कि मैं यदि नरक में भी चला जाऊँगा, तब भी साहित्य को याद करूँगा।

अभी पूज्य जवाहरलालजी म० या प्रसिद्ध वक्ता चौथमलजी म० के साहित्य को पढ़ते हैं, तो उसमें लिखी हुई कथाएं सदा

सारगर्भित बातों को जनता याद कर लेता है। दुनिया में दो ही बातें कायम रहती हैं—गीतड़ा या भीतड़ा। आगरा में शाहजहां के द्वारा निर्मापित ताजबीबी का रोजा है। वह शानदार इमारत जब तक मौजूद है, तब तक दुनिया शाहजहां को याद करती रहेगी। इसी प्रकार जो ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं और वे अपने हाथ में आते हैं तो लोग उन्हें पढ़ कर कहते हैं कि यह अमुक की रचना है।

तो कथाएँ प्राय: अधिक समय तक याद रहती हैं। अत-एव मैं भी आपके सामने महापुरुषों के चरित्र रख रहा हूँ इस आशा से कि इनके द्वारा आपके जीवन का निर्माण हो। आप उन्हें सुन कर अपने जीवन को उन्नत और पवित्र बनाएँगे तो आपका कल्याण होगा।

अमरसेन वीरसेन चरित्र—

कवि चरित प्रारम्भ करने से पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए मंगलाचरण करते हैं—

पार्श्वनाथ प्रणमूं सदा, वामा देवी नन्द।
नित्य स्मरण करता थकां, पावे चित्त आनन्द ॥१॥
शरण ग्रही जिनराज का, कहूँ कथा विस्तार।
अमरसेन वीरसेनजी, किम पाया भव पार ॥२॥

इस चरित ग्रन्थ के रचयिता स्व० पूज्य खूबचन्दजी म० हैं। चरित को प्रारम्भ करने से पहले यहां भगवान् पार्श्वनाथ को प्रणाम किया गया है और कहा गया है कि मैं कविता की रचना

करने से पहले, मंगलाचरण के रूप में भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति करता हूँ, क्योंकि कोई कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व भगवान् की स्तुति करने से उसकी निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति हो जाती है।

भगवान् पार्श्वनाथ की माता का नाम वामा देवी और पिता का नाम अश्वसेन था। वे तीस वर्ष पर्यन्त संसारावस्था में रहे और फिर विरक्त होकर मुनि बन गए। सित्तर वर्ष तक चारित्र-धर्म का पालन करके मोक्ष में पधारे थे।

भगवान् पार्श्वनाथ का स्मरण करने से जीवन आमोदमय और प्रमोदपरिपूर्ण बन जाता है। भगवान् के शासनरक्षक देवता उसकी सहायता करते हैं। उनके शासनदेव हैं धरणेन्द्र और पद्मावती, जिन्हें किसी समय कुमारावस्था में, नाग-नागिन के रूप में जलते समय नमस्कारमन्त्र सुनाया था। जब भगवान् पार्श्वनाथ का स्मरण किया जाता है तो वे ध्यान लगा कर जान लेते हैं कि मेरे इष्ट को कौन याद कर रहा है। और फिर वे उसकी सहायता कर देते हैं। मैंने अपने जीवन में खूब अनुभव किया है, क्योंकि यह जीवन है लम्बा और चलता-फिरता। इसमें न जाने किन-किन के साथ रहना पड़ता है। कभी समता वालों का तो कभी विषमता वालों का भी योग मिल जाता है। जब विषमता वालों का योग मिलता है तो दुःख के अनुभव भी होते हैं। परन्तु उन दुःखों से छूटने का साधन उस समय क्या है?

इसी बात को दर्शाते हुए मैंने अपनी कविता में कहा है—

पारस जिनंदा रे २ सिरी जगतपति रहूँ सदा आनन्दा रे ॥
पारस० ॥टेर॥

कल्प तरू सम नाम आपको,
प्रत्यक्ष पुरुपादाणी रे।
सुर नर सेव करे सुने,
जगन्नाथ की वाणी रे ॥ पारस० १ ॥

चिन्ता चूरण आशा पूरण,
चिन्तामणि दर्शावे रे।
मन तन से जो ध्यान धरे,
मनोवांछित फल पावे रे ॥ पारस० २ ॥

राजनगर[1] में हीरालाल मुनि,
चरण-शरण में आवे रे।
आत्मभाव में लीन होय,
पारस गुण गावे वे ॥ पारस० ३ ॥

अर्थात्—जब-जब जिस-जिसके चित्त में चिन्ता का आविर्भाव होता है, उस समय वह यदि भगवान् पार्श्वनाथ का नामस्मरण कर तो वह चिन्ता पूर्ण हो जाती है।

भाइयों ! मैं विहार प्रान्त में भ्रमण कर आया हूँ। सम्मेदशिखर के लिए पार्श्वनाथ स्टेशन है। वहां दिगम्बर सम्प्रदाय के श्रीगणेशप्रसादजी वर्णी हैं, जो इस समय क्षुल्लक अवस्था में हैं। उन्होंने बड़े पुरुषार्थ से साठ वर्ष तक दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचार किया है। बहुत से स्कूल, विद्यालय, गुरुकुल और कालेज भी उन्होंने स्थापित करवाये हैं। वे जहां भी गये, ज्ञानप्रचार का ही कार्य किया। एकबार वे बहुत-से लोगों को साथ लेकर,

१ अहमदाबाद

सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए गए थे, पार्श्वनाथ स्टेशन से १४ मील पर मधुवन है। वहां से पर्वत पर चढ़ने-उतरने में १८ मील का रास्ता हो जाता है, तो वर्णीजी सम्मेदशिखर की यात्रा के समय रास्ता भूल गए, सबके कंठ प्यास से सूख रहे थे, लोग पानी-पानी चिल्ला रहे थे। परेशानी की सीमा नहीं थी, उस समय उन्होंने एक तरफ बैठकर भगवान् पार्श्वनाथ का स्मरण किया कि—'हे पार्श्वनाथ भगवन्! क्या हम तेरे स्थल पर आकर यों ही प्यासे मर जाएँगे?'

एक निष्ठा के साथ भगवान् को स्मरण करने का प्रभाव यह हुआ कि थोड़ी दूर में पानी का एक स्रोत नजर आने लगा।

अभिप्राय यह है कि चिन्ता के समय भगवान् पार्श्वनाथ को श्रद्धापूर्वक स्मरण करने से सारी चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं। इसीलिए कवि प्रार्थना में कह रहा है—

चिन्तामणि पार्श्वनाथ,
चिन्ता म्हारी चूरजो जी पार्श्वनाथ।
आशा तो म्हारी पूरजो जी पार्श्वनाथ॥

भाइयों! यह जैनदिवाकर चौथमलजी म० का बनाया भजन है। ऐसे ऐसे एक नहीं, किन्तु अनेक मंत्र अनेक महापुरुषों के बनाये हुए मौजूद हैं। पुत्र प्राप्ति के, लक्ष्मी प्राप्त करने के, और मुकदमा जीतने के मंत्रों में भगवान् पार्श्वनाथ का नाम आता है। तथ्य तो यह है कि भगवान् को याद करने से भक्तों के सारे दुःख दूर हो जाते हैं।

तो यहां पूज्य खूबचदजी म० भी कहते हैं कि जो भी भगवान् को स्मरण करता है, उसके यहा सदैव आनन्द ही आनन्द रहता है। मैं भी अरिहन्त भगवान् की शरण लेकर अपनी कथा को विस्तार पूर्वक कहना चाहता हूं, वह कथा है अमरसेन तथा वीरसेन की, उनके जीवन मे कैसी कैसी घटनाएँ घटीं और उन्होंने किसी प्रकार अन्तिम समय में कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया उसका सविस्तार वर्णन किया जाएगा।

अमरसेन और वीरसेन दोनों ग्वाले के लड़के थे, दुर्भाग्य से बाल्यावस्था मे ही उन्हें माता-पिता की छत्र छाया से वंचित होना पड़ा, संसार मे प्राय: देखा जाता है कि पैसे वालों की सार-सँभाल करने वाले तो बहुत मिल जाते हैं, परन्तु धनहीन जनों की सार-सँभाल करने वाला कोई नहीं मिलता, इन दोनों अभागे बालकों के विषय में भी यही हुआ।

विषय परिस्थिति उनके सामने थी, तब दोनों भाइयों ने विचार किया-इस गांव में हमारे खाने, पीने, पहनने और रहने का प्रबन्ध करने वाला कोई नहीं है अतएव हमे कहीं अन्यत्र चल देना चाहिए। कहीं न कहीं कोई न कोई माई का लाल हमारी उदरज्वाला को शान्त करने वाला और तन को ढाकने वाला मिल ही जायगा। संसार बहुत बड़ा है और हमारी आवश्यकता बहुत थोड़ी है, किसी के हृदय में सद्भावना जागेगी और हमारा ठिकाना लग जाएगा।

इस प्रकार की आशा का अवलम्बन करके दोनों भाई अपनी जन्मभूमि को त्याग कर निकल पड़े और किसी प्रकार हस्तिनापुर नगर में जा पहुँचे। वहां पहुंच कर वे रोटी की तलाश

में भटकने लगे। वे सोच रहे थे—यहां कोई उदार सेठ मिल जाए और हमें नौकरी दे दे—काम लेकर रोटी-कपड़ा दे दे।

पुण्य का उदय होता है तो अनुकूल संयोग मिल जाते हैं। तदनुसार घूमते घूमते उन्हें एक सेठ के दर्शन हो गए। सेठ का नाम जिनदास था। दोनों भाइयों ने जिनदास सेठ से बड़े ही करुण स्वर में, हाथ जोड़ कर अपनी दीन दशा की बात कही।

भाइयों! अपने हृदय की पीड़ा की बात यदि कहनी हो तो सभी के सामने नहीं कहनी चाहिए, किन्तु जो सहृदय हो और दयालु हो, उसी के सामने कहना चाहिए। जिस तिस के सामने कहना अपनी लघुता प्रकट करना है, उपहास का पात्र बनना है। इस सम्बन्ध में तुलसीदासजी ने कहा है—

तुलसी पर घर जाय के, बात करे दुख रोय।
भर्म गमावे गांठ को, बांट सकै नहि कोय॥

तुलसीदासजी कहते हैं—चाहे जिसके सामने दुःख का रोना मत रोओ। ऐसा करने से भर्म भी जाएगा और कुछ काम भी नहीं बनेगा। अपने गौरव को भी नष्ट कर दोगे और पल्ले भी कुछ पड़ेगा नहीं। दूसरों के सामने अपने को हास्यास्पद बनाने की अपेक्षा यही उचित है कि संकटकाल में अपने हृदय को मजबूत बनाओ और दृढ़ता के साथ परिस्थिति से जूझो और भविष्य पर भरोसा रक्खो। क्योंकि किसी का समय सदैव सरीखा नहीं रहता। गाड़ी के पहिये के समान सुख दुःख बदलते ही रहते हैं। सुख स्थायी नहीं रहा तो दुःख भी स्थायी नहीं रहेगा।

हां, अगर तुम्हारा खयाल है कि किसी से कहने पर दुःख दूर हो सकता है तो ऐसे व्यक्ति के सामने ही अपना दुःख प्रकट करो, जिसके दिल में दया हो और जो तुम्हारी कष्टकथा सुन कर दया से द्रवित हो जाय। जो तुम्हारे आंसुओं को देख कर स्वयं अपने आंसुओं में डूब जाए और हर प्रकार से तुम्हारी सहायता करने को मजबूर हो जाए।

तो वे दोनों लडके अपनी अभिलाषा लेकर जिनदास के पास पहुँचे, जो दया की साक्षात मूर्ति था। वह व्रतधारी श्रावक था। लड़कों ने सेठ से कहा—सेठ साहब ! हम दोनों अमुक गांव में जन्मे और बड़े हुए हैं। दुर्भाग्य से माता-पिता बाल्यावस्था में ही छोड़ कर चल बसे। अब इस संसार में हमें सहारा देने वाला कोई नहीं है। इस पापी पेट को भाड़ा देने के लिए ही हम लोग भटकते हुए यहां आ पहुंचे हैं। पेट की पूर्त्ति के लिए सब कुछ करने को तैयार हैं। आपके द्वारा बहुतों का पालन होता है। तो हम दोनों को भी अपने यहां किसी काम पर रख लीजिए। हम अपने सामर्थ्य के अनुकूल काम करने में प्रमाद नहीं करेंगे। आप हमें रोटी और कपड़ा दे दिया करें। इसके सिवाय हम आपसे द्रव्य की याचना नहीं करेंगे।

दोनों बालकों के मुख से इस प्रकार के दयाजनक वचन सुन कर जिनदास का दिल पसीज गया। उसने मन में विचार किया—ये बेचारे गरीब हैं आशा लेकर इतनी दूर से यहां तक आए हैं। इनका दुःख दूर करना मेरा कर्त्तव्य है।

संसार में कई ऐसे भी होते हैं कि उनके यहां स्थान खाली हो तो भी इंकार कर देते हैं। कई ऐसे भी हृदयहीन होते

हैं जो दूसरे की विपदा की बात सुन कर प्रसन्न होते हैं और सान्त्वना देना या सहायता करना तो दूर ही रहा, उलटा उपहास करते हैं। वे धन के मद में अंधे हो कर भूल जाते हैं कि कभी वे भी आपत्ति के चंगुल में फँस सकते हैं और ऐसा अवसर आ सकता है कि उन्हें किसी के सामने दया की भीख मांगनी पड़े। परन्तु जो धर्मनिष्ठ है और संसार के वास्तविक स्वरूप को जानता है, वह दुखियों पर दया ही प्रदर्शित करता है। वह जानता है कि प्राप्त लक्ष्मी का सदुपयोग दीन दुखी जीवों की सहायता करने में ही है। यह लक्ष्मी न साथ आई थी, न साथ जाने वाली है। इसके द्वारा जितना पुण्य उपार्जन कर लिया जाय, उतना ही लाभ है।

जिनदास सेठ धर्म का ज्ञाता था। उसने सहानुभूति के साथ बालकों की बात सुनी और उन्हें यथोचित सान्त्वना प्रदान की।

इससे आगे क्या होता है, यथासमय बतलाने की भावना है।

९-९-४६
बैंगलोर केन्टोमेन्ट